UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178951

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83.1/M53S Accession No. G.H.1689

Author मेंहदीरत्ता, वीरेन्द्र ।

Title शिमले की शाम, 1953

This book should be returned on or before the date last marked below.

शिमले की क्रीम

[तथा अन्य कहानियाँ]

वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता

नीलाभ-प्रकाशन-गृह

प्रकाशक

नीलाभ प्रकाशन गृह

५, खुसरो बाग़ रोड,

इलाहाबाद-१

मूल्य २।)

मुद्रक

नया हिन्द प्रेस

१४५, मुट्ठीगंज,

इलाहाबाद

आधुनिक हिन्दी साहित्य के सशक्त महारथी

श्री उपेन्द्र नाथ अश्क

के लिए स्नेह और श्रद्धा के साथ

Originality is simply a pair of fresh eyes—

T. W. Higginson.

क्रम

वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता की कहानियाँ	७
लेखक की ओर से	११
शिमले की क्रीम	१७
पंखा-कुली	२९
कम्पनी	३५
चाबियों का गुच्छा	४३
मनोविज्ञान का वेत्ता	४६

महत्वाकाँक्षी	६७
दिलीप	७१
कुल का दीपक	७६
पिल्ला	८६
कानवैंट	६७
टिप	१०५
दो पैकेट सिगरेट	१११
प्रयोग	११७

वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता की कहानियाँ

नये लेखक सम्पादकों से जितने नाराज़ रहते हैं, उतने ही सम्पादक भी नये लेखकों से घबराते हैं। कम-से-कम यह घबराहट मुझे बहुत होती है। कालेजों या युनिवर्सिटियों के विद्यार्थी जब मेरे पास अपनी कहानी प्रकाशनार्थ लाते हैं, तो वे बस एक ही बात सोचते हैं। वह यह कि अगर मैं चाहूँ, तो उनकी कहानी अवश्य छप सकती है। वे यह बात कतई ख़्याल में नहीं लाते कि आखिर मेरे सिर एक जिम्मेदारी है, मेरा चाहना, न चाहना कुछ बातों पर निर्भर करता है। अब अगर मान लीजिये कि कहानी नहीं छपी, (अकसर ऐसा ही होता है) तो इसका मतलब वे साफ़ यही लगा लेते हैं कि मैंने उसे छापना ही नहीं चाहा। अब आप लाख समझाइये, मगर वे तो एक ही बात रटते रहेंगे, 'आप चाहते, तो जरूर छप जाती।' अगर आप कुछ सुझाव दीजिये, तो वे कहेंगे, 'आप ही जरा तकलीफ़ उठा कर ठीक कर दें।' और आपने अगर 'तकलीफ़' उठा ही ली तो वे कहेंगे, 'मेरी कहानी ही चौपट हो गयी।'

हो सकता है कि मेरे व्यवहार या समझ में भी कोई त्रुटि हो। ऐसा भी होता है कि मेरी अस्वीकृत की हुई कहानी किसी अन्य पत्र-पत्रिका में प्रकाशित हो जाती है। उस समय तो लेखक का वह निश्चय और भी पक्का हो जाता है कि दरअसल मैंने उसे छापना ही नहीं चाहा। जो भी हो, अब तो कोई नये लेखक जब मेरे पास छापने के लिये कहानी लाते हैं, तो मैं मन-ही-मन यही मनाता हूँ कि वह छपने लायक निकल जाय, ताकि मैं लेखक के कोसनों से बच जाऊँ। लेकिन मनाने से ही तो सब नहीं होता। पसन्द न आने पर भी किसी नये या पुराने लेखक की कोई कहानी मैंने कभी छापी हो, मुझे याद नहीं।

श्री वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता ने जब अपनी पहली कहानी मुझे छापने को दी, तब भी मैंने वही मनाया। और मुझे यह लिखते खुशी होती है कि उनकी वह कहानी मुझे बेहद पसन्द आ गयी। उन्हें मैंने बधाई दी और आगे भी लिखने को कहा। उनकी कहानी में दरअसल कुछ ऐसी विशेषतायें और सुन्दरतायें थीं, और फिर वे समझने और सीखने के लिये और मेहनत करने के लिये इतने सच्चे हृदय से कटिबद्ध दीखे कि सहज ही मैं उनकी ओर आकर्षित हो गया। यों भी उनका व्यक्तित्व कम प्यारा नहीं।

फिर इस संग्रह की उनकी दूसरी कहानियाँ भी देखने को मिलीं और मैं उनकी प्रतिभा का क़ायल हो गया। श्री मेंहदीरत्ता की इन कहानियों में एक ऐसा नयापन और ताज़गी है कि उन्हें पढ़ कर तबीयत तो खुश होती ही है, कुछ समझने और सीखने को भी मिलता है। निम्न, मध्यम तथा निम्न उच्चवर्ग के जीवन की पकड़ इनकी इतनी अद्भुत और सच्ची है कि एक साधारण संकेत में ही एक पूरी तस्वीर पाठक के सामने रखने में ये समर्थ हैं।

इन कहानियों का सम्बन्ध हमारे समाज और जीवन से है। हर

कहानी समाज के एक विशेष अंग, एक विशेष चरित्र को छूती है और बड़े ही सहज ढंग से हमारे सामने उसकी सच्चाई को उजागर कर देती है। इन कहानियों में आपको बासी कथानक न मिलेंगे, घिसा हुआ रूप या शैली न मिलेगी, यान्त्रिक आरम्भ, मध्य और अन्त न मिलेगा। ये कहानियाँ बड़ी सीधी-सादी, हल्की-फुल्की और कहने-सुनने के ढंग की हैं, लेकिन ऊपर से जितनी हल्की मालूम होती हैं, अन्दर से उतनी ही गहरी और चुटीली हैं। यही उनकी खूबी है। इसी में मोह लेने वाला शैली का नयापन और ताज़गी है। श्री मेंहदीरत्ता ने कहीं भी कथानक गढ़ने या चरित्रों को उठाने या गिराने या घटनाओं के जाल बुनने का प्रयास नहीं किया है। जो कुछ उन्होंने जैसे देखा, सुना, अनुभव किया और समझा है, उसे वैसे ही सहजता से चित्रित कर दिया है। बेशक यह सहज चित्रण उतना आसान नहीं, जितना ऊपर से लगता है। इस सहजता में भी जो गहराई इन चित्रणों में आयी है, उससे साफ़ है कि श्री मेंहदीरत्ता ने अपने चरित्रों को कितनी बारीकी से समझा है, उनके जीवन का कितना गहरा अनुभव किया है, उनकी हर बात, हर रंग, हर चाल-ढाल का कितनी सूक्ष्मता से अध्ययन किया है, उनकी रग-रग से कितने परिचित हुए हैं! यही कारण है कि वे एक साधारण रेखा, एक साधारण संकेत में ही वह चित्र, वह बात हमारे सामने रख देने में सफल होते हैं कि हम देख-सुन कर चमत्कृत हो जाते हैं और हमें लगता है कि उनके एक चरित्र से परिचित हो, हम हजारों, लाखों चरित्रों को जान लेते हैं।

ऐसी कहानियों के लिये जिस वर्णन-शक्ति, भाषा, शैली और व्यंग्य-व्यंजना की आवश्यकता होती है, वह श्री मेंहदीरत्ता में भरपूर मात्रा में है। उन्हें मालूम है कि एक बात को कहाँ, किस तरह, कितने शब्दों में लिखने से उस बात की शोभा बढ़ती है और पाठक पर पूरा असर होता है। शिमले का ज़िक्र करते हुए आप एक जगह लिखते हैं—

'जी हाँ, वही शिमला, जो हिमालय की ऊँची चोटियों पर बसा हुआ है—वही हिमालय की ऊँची चोटिआँ, जहाँ कभी देवता निवास करते थे। परन्तु अब? अब हिमालय की चोटियों पर देवताओं के बदले ऊँचे पदाधिकारी बसते हैं। देखा जाय तो ऊँचे पदाधिकारी देवताओं से कुछ कम भी नहीं!'

और शिमले की माल रोड पर सैर को जाने वाली एक महिला को आप सलाह देते हैं—'आप तैयार हो गयी हैं, तो चलिये। पर हाँ! यदि आपकी शादी हो गयी है और उसके फलस्वरूप कुछ कँकड़े भी चिमटे रहते हैं आपको, तो आप उन्हें घर ही छोड़ जाइये!'

और शिमले के जीवन के बारे में सुनिये—'शायद आप नहीं जानतीं कि साँझ समय शिमले की माल रोड पर धोखे की एक अनवरत शोभा-यात्रा के सिवा और कुछ नहीं होता। झूठा रूप, झूठी चाल, झूठी मुस्कान, झूठे ठहाके, स्वर झूठा, नाज़ झूठे, अन्दाज़ झूठे—क्या झूठा नहीं होता? उस जलूस में दयानतदारी के लिये जगह ही कहाँ है?'

और पोशाक का वर्णन—'कमीज़ की फिटिंग तो देखिये! कमर का ख़म किस ख़ूबी से उभारा है! हाँ, पहनने में ज़रूर कठिनाई हुई होगी, लेकिन फिर यह मदन का डमरू व्यर्थ भी तो नहीं जाता, एक जुम्बिश से हजारों मिट जाते हैं।'

इस छोटे, पर प्यारे कहानी-संग्रह में इस तरह की सैकड़ों बानगियाँ आपको मिलेंगी। इन चन्द उदाहरणों से ही स्पष्ट है कि श्री मेंहदीरत्ता में कितनी प्रतिभा और शक्ति है!

मुझे विश्वास है कि इस कहानी-संग्रह का स्वागत होगा। ऐसे उदीयमान प्रतिभाशाली कहानी-लेखक को प्रकाश में लाने के लिये नीलाम प्रकाशन बधाई का पात्र है।

इलाहाबाद
७-१-१९५३

—भैरव प्रसाद गुप्त

लेखक की ओर से

आज अपनी कहानियों के प्रथम संग्रह को हिन्दी पाठकों के सम्मुख रखते हुए प्रसन्नता और संकोच दोनों भावनाएँ समान रूप से मन को बाँध रही हैं।

कवि ने कहा है—निज कवित्त केहि लागि न नीका—और अपने को अच्छे लगने वाले उस कवित्त को (कहानी कवित्त में शामिल है) छपे देख कर किस नये अथवा पुराने लेखक को खुशी न होगी। पर जिस तरह अभिनेता पहली बार रंगमंच पर जाने और दर्शकों का सामना करने से मन ही मन झिझक उठता है, उसी प्रकार आज अपनी इन कहानियों को हिन्दी पाठकों के समक्ष रखते हुए मुझे संकोच हो रहा है। परन्तु अनुभवी अभिनेता और सफल निर्देशक का प्रोत्साहन व परामर्श नये अभिनेता का संकोच दूर कर देता है, उसी तरह आदरणीय भैरव प्रसाद जी गुप्त और श्रद्धेय अश्क जी के प्रोत्साहन और परामर्श ने मुझे हिन्दी पाठकों के सामने अपनी इन कहानियों को रखने का साहस दिया है।

साहित्य-सेवा की साध मेरे मन में बचपन से थी। साइंस का अध्ययन करता हुआ भी मैं अपने कालेज की मैगज़ीन का सम्पादक था। पर पिता जी मेरे अन्य भाइयों की तरह मुझे भी इन्जीनियर बने देखना चाहते थे। तब मेरे बड़े भाई ऋषि राज तथा श्री महेन्द्र और मेरी बहनों ने मेरा साहस बढ़ाया और उन्हीं की सहायता से मैं हिन्दी का छात्र हो कर इलाहाबाद विश्वविद्यालय में आ गया। इलाहाबाद में आ कर मुझे मालूम हुआ कि अश्क जी भी इलाहाबाद रहते हैं, तब मैंने उन से परामर्श लेने का निश्चय किया। उनकी कहानियों से मेरा पुराना परिचय था, पर उन का उपन्यास 'गिरती दीवारें' मैंने इलाहाबाद में ही पढ़ा था और उसका मुझ पर बड़ा प्रभाव पड़ा था।

इच्छा होने पर भी मैं अश्क जी से जल्दी नहीं मिल सका। मैं अपने मित्रों का सहारा देखता था। जब वे महीनों टालते रहे तो मैंने स्वयं अश्क जी से मिलने की ठानी। साहित्यकार संसद के उद्घाटनोत्सव में मुझे उन की झलक मिली। मैंने अपना परिचय दिया और मिलने की इच्छा प्रकट की। अश्क जी बाहर जा रहे थे, उन्होंने मकान का पता दिया और पन्द्रह दिन बाद मिलने को कहा। एक पखवाड़े के बाद उनके यहाँ गया, मालूम हुआ कहीं दूसरी जगह गये हैं। उन्हीं दिनों मैगज़ीन में छपा अपना एक लेख उनके यहाँ छोड़ आया, पर अपनी व्यस्तता में मेरा लेख क्या, वे मुझे ही भूल गये। क्योंकि जब मैं फिर उनके यहाँ गया और वे रिक्शा में जाते हुए मिले तो मेरे नमस्कार के जवाब में यद्यपि उन्होंने नमस्कार किया पर वे मुझे place नहीं कर पाये। मैंने रिक्शा के साथ साथ जाते हुए फिर परिचय दिया और फिर मिलने का समय लिया।

उन्होंने सुबह आठ बजे मिलने को कहा और बताया कि इसके बाद उनका प्रोग्राम निश्चित नहीं रहता। सर्दियों के दिन थे। मैं प्रातः उठकर तैयार हुआ। यूनीवर्सिटी के निकट होस्टल में रहता था। अढ़ाई तीन

मील चल कर जब लीडर प्रेस के निकट पहुँचा तो मैंने सामने से उन्हें रिक्शा पर आते पाया। मुझे देखते हुए उन्हें अपना वचन याद आ गया। पर वे कहीं बड़े ही ज़रूरी काम से जा रहे थे, इसलिये उन्होंने दूसरे दिन सुबह आने को कहा। यह निष्ठा मेरे हक़ में अच्छी साबित हुई, क्योंकि उस दिन घोर व्यस्तता के बावजूद अश्क जी ने मुझे काफ़ी समय दिया। वे शेव कर रहे थे जब मैं पहुँचा। उन्होंने मुझे अन्दर बुला लिया और कोई छोटी पर अच्छी कहानी सुनाने को कहा। मैंने 'पंखा कुली' सुनानी शुरू की। वे शेव करते रहे और मैं कहानी सुनाता रहा। उन्हें वह कहानी इतनी अच्छी लगी कि न केवल उन्होंने उसे 'संगम' के लिये ले लिया बल्कि मुझे दूसरी कहानी सुनाने को भी कहा। मैं 'शिमले की क्रीम' सुनाने लगा। अश्क जी सुन कर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने यह कह कर बड़ा साहस बढ़ाया कि इस शैली की एक भी सफल कहानी उन्होंने हिन्दी में नहीं पढ़ी।

और उस दिन से अश्क जी सतत मेरा मार्ग निर्देश करते रहे। भाई भैरव प्रसाद जी गुप्त से भी उन्होंने मुझे मिलाया और मैं आभारी हूँ कि गुप्त जी ने न केवल मुझे प्रोत्साहन दिया बल्कि इस संग्रह की भूमिक लिखना भी स्वीकार किया।

यह ठीक है कि ये कहानियाँ 'साहित्यकी' में लोक-प्रिय हुई हैं। 'संगम', 'मनोहर कहानियाँ', 'भारत' आदि पत्र-पत्रिकाओं में छपी हैं। लेखकों और आलोचकों ने इन में से अधिकाँश की प्रशंसा भी की है, पर जब तक हिन्दी पाठकों से लोक-प्रियता की सनद नहीं पातीं, मैं अपने उल्लास को संकोच में बाँधे हूँ। क्योंकि मेरे निकट पाठक का निर्णय ही सब से अधिक मूल्यवान है जिस के बिना कोई लेखक वास्तव में बड़ा नहीं कहलाता; चाहे कोई साहित्यिक टोली उसे जितना भी ऊँचा न उठाये

और आलोचक और लेखक उनकी कितनी भी प्रशंसा न करें। इन चंद शब्दों के साथ मैं अपनी ये कहानियाँ हिन्दी पाठकों के सामने रखता हूँ। उनका प्रोत्साहन मेरा साहस बढ़ाएगा, उनकी आलोचना मुझे अपनी त्रुटियाँ दूर करने का अवसर देगी और उनके परामर्श मेरा मार्ग प्रशस्त करेंगे।

—वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता

शिमले की क्रीम

शिमले की क्रीम

क्या शिमला देखा है ?

जी हाँ ! वही शिमला जो हिमालय की ऊँची चोटियों पर बसा हुआ है—वही हिमालय की ऊँची चोटियाँ जहाँ कभी देवता निवास करते थे।

परन्तु अब ! अब हिमालय की चोटियों पर देवताओं के बदले ऊँचे पदाधिकारी बसते हैं। देखा जाय तो यह ऊँचे पदाधिकारी देवताओं से कुछ कम भी नहीं !

शिमले में पंजाब की क्रीम मिलती है—और मिलती है वह माल रोड पर।

यदि आप ने माल रोड देख ली तो समझिये आपने सारा शिमला देख लिया और यदि शिमला देख लिया तो समझिये आपने पंजाब की क्रीम आँखों से चख ली।

माल रोड पहुँचने से पहले आप को कुछ बातों का ध्यान रखना होगा। बायें हाथ चलने की आदत है आप को ? नहीं तो डाल लीजिये !

और फिर आप को शिमला नुमा होना पड़ेगा। सोचिये नहीं कि इस से फ़ायदा क्या है और नुक़सान क्या? यह यहाँ का एटीकेट है।

यदि आप लड़के हैं तो कोई उम्दा सा सूट निकालिये। यदि सूट आप के पास अपना है तो ठीक, नहीं तो अपने किसी मित्र से माँग लीजिये। शर्माइये नहीं। भला यह भी कोई शर्माने की बात है, और वह भी शिमले में। जहाँ लोगों का अपना जीवन भी अपना नहीं होता, माँगे का रहता है। सूट को प्रेस कीजिये। पतलून की क्रीज़ ऐसी हो कि यदि उस पर खरबूज़ा गिरे तो कट जाय। कोट के कन्धे बाहर निकले होने चाहियें। ज़रूरत हो तो दर्ज़ी से पैड-वैड दिलवा लीजिये।

टाई को सूट से मैच कर रहे हैं आप?

पुराने फैशन आप ने छोड़े नहीं।

यह अम्बार उलट पुलट कर देखिये न! अजी साहब! विमुख रंग की टाई ढूँढिये। यह लीजिये! मिल गई न आपको!......इस गहरे नीले सूट पर यह लाल भभूका टाई......वाह!

गले में इसका फन्दा डाल गाँठ लगाइये। छिः! गाँठ लगानी भी नहीं आती। एक बार नहीं बीस बार लगाइये, जब तक ठीक न लगे लगाते जाइये! हिम्मत न हारिये बिसारिये न हर नाम।

अपने चिकने बालों को इस ढंग से सँवारिये कि आप के गोल या लम्बे या चपटे चेहरे पर सुन्दर लगें। जूते तो आप के चमचमा ही रहे हैं। अब ज़रा शीशे में अपने दर्शन तो कीजिये। क्या बाँके लग रहे हैं आप! सच कहता हूँ राजकुमार लगते हैं, राजकुमार!

अभी एक मित्र को शिमले की सैर के लिए तैयार कर के आया हूँ। आप लड़की हैं! आपको ज़रा दिक़्क़त होगी! आप को माल की सैर कैसे कराऊँ? संकोच भी है, और खुशी भी। संकोच इसलिये कि किसी

लड़की के साथ अकेले घूमने कभी नहीं निकला और खुशी इसलिये कि किसी लड़की के साथ चलना, यदि वह अपनी बहन नहीं, तो बड़े गौरव की बात समझी जाती है—विशेष कर हमजोलियों की नज़र में। मित्र लाख बहाने करके आ आ कर देखते हैं और सौभाग्यवश यदि आप सुन्दर भी हों तो उनकी आँखों में ईर्षा अनायास ही झलक उठती है। इस ईर्षा से दुःख नहीं होता, खुशी से छाती दुगनी हो जाती है।

आप अभी तक बैठी हैं? उठ कर कुछ तैयारी वैयारी की सोच कीजिये!

आदेश हो तो मैं भी हाथ बटाऊँ?

शलवार रेश्मी पहनिये, क्योंकि चलते समय इस में अधिक ग्रेस आती है। काश्मीरी स्त्रियों की सी कमीज़ होनी चाहिये—याने कि खूब लम्बी---घुटनों के नीचे तक।

पहनिये तो!

बुरी नहीं!

परन्तु आप ने ग़रारों पर बहुत दाम खर्च किये हैं।

तो कोई उम्दा सा ग़रारा ही निकालिये। यह वही है न जिस पर दस गज़ रेश्मी कपड़ा और जिस की कढ़ाई पर पाँच सौ रुपये लग गये थे।

क्या आप जानती हैं भारत में कपड़े की कमी है?

नहीं न!

मैं आप को याद दिलाना भी नहीं चाहता।

पर आप की दृष्टि तो साड़ियों वाले ट्रंक पर जमी है।

बढ़िया पल्लू वाली कोई नफ़ीस साड़ी ही पहनिये। ब्लौज़...... साड़ी के रंग का भी हो सकता है और विमुख रंग का भी।

नीचे संगमरमर सी कमर तो आपकी चमक ही रही है।

वाह! साड़ी पहनना तो कोई आप से सीखे।

बिल्कुल जलपरी लगती हैं!

तो साड़ी ही ठीक रही!

अब रही बाल बनाने की समस्या!

लम्बे बाल हैं आपके तो छोड़िये दो नागिनें! यों क़यामत ढाना न चाहें, तो अजन्ता स्टाइल के जूड़े हैं......हज़ारों फैशन......पसन्द कर लीजिये और बाँध डालिये कोई एक!

नहीं तो बिना वेणी बाँधे पिनों की सहायता से बालों का जूड़ा सँवारने का फैशन भी खूब चलता है। वही सही।

"पर...र....र", आप ने क्या कहा? 'मेरे बाल छोटे हैं' फिर तो बात ही बन गई। इन छोटे बालों को थोड़ा सा और छोटा करवा लीजिये। घुँघराले बना लीजिये। बॉबड-हेयर कहलायेंगे। आप को लाज आती है बाल कटवाते! तो चलिये रोल ही करवा लें। यह भी समस्या हल हो गई। अब आप की गणना भारत के सभ्य याने कि अमीर लोगों में की जाने लगेगी।

आप को आश्चर्य हो रहा है......"सबसे अधिक सभ्य, याने कि अमीर लोग?"

सम्भवतः आप जानती नहीं कि भारत में सभ्यता उसी की है जिस की जेब में चार पैसे हैं, शेष सभी असभ्य हैं। खैर! हटाइये!

देखिये! इतमीनान से शृङ्गार कीजिये, घबराइये नहीं। शृङ्गार करते समय घड़ी नहीं देखा करते।

चाँद जब नज़र नहीं आता, तो आपके विचार में कहाँ रहता है और क्या करता है? शृङ्गार घर में शृङ्गार करता है नहीं तो हर बार इतना सुन्दर न लगता।

जब चाँद को भगवान ने पन्द्रह दिन दिये हैं तो आप यदि अपने चन्द्र मुख पर शृङ्गार करते समय पाँच घंटे लगा दें तो कुछ अधिक है क्या? सब कुछ तो आपके सामने पड़ा है—तरह तरह की क्रीम, तरह तरह

के पाउडर, तरह तरह के सेंट, गालों का गाज़ा, ओंठों की लाली, आँखों का काजल और न जाने क्या क्या !

आप की देह-यष्ठि का विलास, उसकी यह ग्रेस.....क्या बात है !......कोई कवि ही चाहिये इसके वर्णन को......छाती से कमर और कमर से नितम्भ......और इन रेखाओं को उभारने वाले, किसी बढ़िया दर्ज़ी के हाथों सिले आपके वस्त्र......जिधर से निकल जायँगी, जादू जगा जायँगी।

आप तैयार हो गईं, तो चलिये। पर हाँ! यदि आपकी शादी हो गई है और उसके फलस्वरूप कुछ केकड़े भी चिमटे रहते हैं आपको, तो आप उन्हें घर ही छोड़ जाइये। उनके रोने चिल्लाने की ओर ध्यान न दीजिये। उन्हें फिर किसी दिन लोअर बाज़ार ले जाइयेगा। पर आज तो माल रोड की ही रहने दीजिये।

मगर दायें हाथ में छाता और बाएँ हाथ में बटुआ लेना तो आप भूल ही गईं। लपक कर उठा लाइये! ओह! जल्दी चलने से आपकी साड़ी खराब हो जायगी। ठहरिये! मैं ला देता हूँ।

पर यह अलमारी तो केवल बटुओं और छातों से ही भरी पड़ी है। यह घर भर के हैं या केवल आपके?

आ रे...रे...र! आप तो साड़ी और बटुए और छाते का रंग मिला रही हैं। साड़ियों से मैच करते छाते और बटुए होने चाहियें! यही न?

यदि आपको हर एक चीज़ को अपनी साड़ी से मैच कराने का शौक है तो आपने पहले क्यों नहीं कहा? मैं अपना सूट भी आपकी साड़ी से मैच करता हुआ पहनता। यदि आपकी शादी हो गई है तो अपने पति-देव के सूट अपनी साड़ी से मैच करते हुए बनवाइए और बच्चों के भी, यदि हो सके तो!

लीजिए हम पटियाला-हाऊस के पास आ गये हैं। छोटे शिमले को पीछे छोड़ आये हैं। छोटे शिमले में ही प्रायः सब बड़े-बड़े अफ़सरों की कोठियाँ हैं। यह गान्धी टोपी धारी महाशय जो आपके आगे जा रहे हैं, कभी मिनिस्टर थे। इनकी कोठी भी छोटे शिमले में थी। अब मिनिस्ट्री टूटने और गवर्नर का राज्य होने से बेचारे कटी पतंग की तरह इधर-उधर डोल रहे हैं।

आगे बढ़ने पर हमें तारा देवी के पहाड़ों की शृङ्खलाएँ नज़र आ रही हैं। सूर्यास्त के समय, वर्षा से धुले पहाड़ों पर जब लाल रोशनी पड़ती है तो ऐसा लगता है जैसे सुहागरात के दिन दुल्हन ने अपने शरीर को केसरी उबटन से धोकर लाल साड़ी पहनी हो। सुन्दर दृश्य देख झीनी सी मुस्कान ओंठों पर लाइये। ऐसे प्राकृत दृश्यों का रसास्वादन करना आपके बस में हो या नहीं, पर यह मुस्कान आपके व्यक्तित्व में चार चाँद लगा देगी, सहज रूप से आपको कला का पारखी बना देगी।

आपने क्या कहा?

"मुस्कराना न भी चाहूँ तो भी मुस्कराऊँ! यह नहीं कर सकती! यह धोखा है!"

आप धोखा नहीं देना चाहतीं?

शायद आप नहीं जानतीं कि साँझ समय शिमले की माल रोड पर धोखे की एक अनवरत शोभायात्रा के सिवा और कुछ नहीं होता। झूठा रूप, झूठी चाल, झूठी मुस्कान, झूठे ठहाके, स्वर झूठा, नाज़ झूठे अन्दाज़ झूठे—क्या झूठा नहीं होता? उस जलूस में दयानतदारी के लिये जगह ही कहाँ है?

शिमले में इस शब्द को झूठ न कह कर चुस्ती, स्मार्टनेस कहा जाता है!

ओह—हो! मैं अपने एक मित्र को तैयार करता आया था, उसे तो

भूल ही गया। असल में जब आप जैसी सुन्दरी का साथ हो तो एक तो क्या, अनेकों मित्र भुलाये जा सकते हैं।

बातों बातों में हम क्लार्क होटल से होकर क्वालेटी पहुँच गये हैं। यहाँ की आइसक्रीम और खाना मशहूर है। अवसर मिले तो यहाँ भी अवश्य जाइयेगा।

असली माल रोड यहीं से शुरू होती है।

आ-र-र! ऐसे नहीं! आप कभी दाँयें देखती हैं फिर बाँयें और फिर पीछे। अभी तो यहाँ कुछ भीड़ भी नहीं और आप की यह दशा है!

आपके मुँह पर उदासी कैसी? मेरी बात पर नाराज़ हो गयीं। नहीं। —कुछ सोच रही हैं शायद!

मैं बताऊँ, क्या सोच रही हैं!

आप सोच रही हैं कि यदि भगवान दो आँखें पीछे भी दे देता तो उस का क्या बिगड़ जाता, यही न?

पर आप चार आँखों से भी सन्तुष्ट न होतीं। कुछ आगे बढ़ कर आप यह सोचने लगतीं कि दो आँखें दायें बायें भी होतीं तो क्या ही अच्छा होता। वास्तव में भगवान आदमी की नस-नस पहचानता है—तभी उस ने दो आँखें दी हैं।

और मेरी मानिये तो इन दो आँखों का ही पूरा-पूरा प्रयोग कीजिए। यदि अमुक सुन्दरी या व्यक्ति को आप देखना चाहती हैं, तो घबराइये नहीं, वह व्यक्ति या सुन्दरी स्वयं ही आपके सामने आ जायगी। आपको अपना चन्द्रमुख दिखाये बिना नहीं जाने की (या नहीं जाने का)! माल रोड पर जब लोग आते हैं तो देखने नहीं, दिखाने आते हैं और तीन चार चक्कर लगाये बिना नहीं लौटते!

गर्दन को मोड़ कर देखने का ढंग भी ठीक नहीं समझा जाता, आँखों के छोर से दाँयीं ओर जाते हुए लोगों को देखिये!

बैकुंठ की मिठाई की दुकान भी ऐतिहासिक जगह है। कोई ज़माना था जब किसी भी देसी चीज़ के बिकने की आज्ञा माल रोड पर न थी। स्वतन्त्रता मिलते ही देसी किस्म की मिठाइयों की दुकान खोलने का साहस बैकुंठ ने ही किया।

आगे देखिये, यह एक रास्ता नीचे जा रहा है। यह लोअर बाज़ार को जाता है। नीचे किस्म के लोगों की यही माल रोड है। यहाँ भी खचा-खच भीड़ रहती है, परन्तु यहाँ आकर भगवान से छः आँखें माँगने की प्रार्थना नहीं करनी पड़ती, बल्कि इन दो आँखों को भी बन्द करने को मन चाहता है। इस रास्ते पर आप भूल कर भी न जाइयेगा। कहीं ग़रीबी और भूख का चित्र आप के कोमल-हृदय को ठेस पहुँचा दे।

देखिये! देखिये! भारतीय सेना के होने वाले अफ़सर याने कि केडिट नयी-नयी कल्फ लगी, चमचमाती वर्दियाँ पहने चले जा रहे हैं। कहीं-कहीं कोई मेजर या केप्टन भी कन्धे पर चमचम करते स्टार लगाये दिखाई दे जाता है। इन की ओर अवश्य देखिये! वर्दियाँ दिखाने और रोब जमाने को ही तो पहन कर आते हैं। रण-क्षेत्र में ही नहीं, प्रेम के क्षेत्र में भी इनका सिक्का चलता है। बड़ी दूर-दूर तक मार करते हैं हमारे जवान! जिधर से गुज़र जाते हैं, दिलों को घायल कर जाते हैं। विशेषकर वे जो कमिशन ग्रेड में हैं और जिनकी होने वाली पत्नियाँ जनरल या ब्रिगेडियर की पत्नी कहलाने के सपने देख सकती हैं। आपकी बात मैं नहीं जानता, पर आज की पढ़ी लिखी लड़कियाँ वर्दी पर जान देती हैं।

माल रोड पर देखने और दिखाने में बहुत ही कम अन्तर है। दिखाने वाले ही दर्शक और दर्शक ही दिखाने वाले हैं।

नव यौवन की मदिरा पिये चली आने वाली इन तीन तरुणियों को तो देखिये, एक दूसरी को बाहों की ज़ंजीरों में जकड़े पग-पग पर प्रलय उठाती जा रही हैं। बीच की सुन्दरी का लावण्य तो आँखों में चकाचौंध

पैदा कर देता है। गेहुँआ रंग, गोरा मुख, लम्बी पतली नाक, पास में शोभा बढ़ाता तिल, धनुषाकार भवें, सुन्दर कट के ओंठ, सुराही सी गर्दन पर चिमटा, अजन्ता के स्टाइल पर बँधा जूड़ा—चाँद भी इसे देख शरमा जाय! कमीज़ की फ़िटिंग तो देखिये, कमर का ख़म किस ख़ूबी से उभारा है। हाँ! पहनने में ज़रूर कठिनाई हुई होगी, लेकिन फिर यह मदन का डमरू व्यर्थ भी तो नहीं जाता, एक जुंबिश से हज़ारों मिट जाते हैं। इसी डमरू के सहारे तो मदन ने बदला लिया था भगवान शंकर से! लम्बी कमीज़ घुटनों से टकरा कर कैसे ज्वार उठा रही है। उठती मिटती ऊर्म्मियों की याद ताज़ा हो जाती है। उस की मदमाती पलकें जिस की ओर उठ जायँ, वह अपने को भाग्यशाली समझे!.........

अरे! जब मैं आप को इस लड़की का परिचय दे रहा था, आपकी निगाहें न जाने किधर भटक रही थीं। वे निगाहें प्यासी हिरणी की सी चौकड़ी भरती हुई उन युवकों में किसी को ढूँढने जातीं, पर मरीचिका पा कर फिर लौट आतीं।

आप मुझे नाम बताइये तो मैं आपकी कठिनाई दूर कर सकूँ। कौन, कहाँ, किस समय, किधर रहता है?—मैं यह सब जानता हूँ! माल पर घूमने के सिवा इस खादिम का भी और कोई काम नहीं।

नहीं बताना चाहतीं! खैर हटाइये। वह अपने आप आपके सामने आ जायगा।

चौंक गयीं न आप इस पायल की आवाज़ पर!

कहाँ से यह आवाज़ आ रही है?

यही जानना चाहती हैं न! एक बार फिर सुनिये पायल की रुनझुन.... हाँ! हाँ! इधर ही से......पायल के घुँघरुओं का उतना ही काम था। अब आप पायल वाली को देखिये। इधर ही तो आ रही है, दूध धुले पैरों में नये फैशन के तीन-तीन घुँघरुओं वाले पायल पहने।

आह,......यह चाल! कयामत ढा रही है। और वह जानती है कि कयामत ढा रही है। इसी लिये तो किसी राजकुमारी की तरह सिर उठाये चली जा रही है।

पहले तो लोग माल पर चन्द्रमुखों को देखने ही आते थे, परन्तु अब पायल के इन घुँघरुओं ने राम के साथ लक्ष्मण भी पैदा कर दिये हैं जो चरणों के सौन्दर्य को ही निहारा करते हैं। आप ही बताइए कि यदि अन्य फैशनों की तरह यह फैशन भी प्लेग की भांति फैल गया तो माल रोड पर पायल पैंजनी और झाँझनों की रुनझुन के सिवा और कुछ सुनाई देगा?

देखा जाय तो यह कुछ बुरा भी नहीं! शृङ्गार स्त्रियाँ इस लिये करती हैं कि अधिक से अधिक देखने वालों को आकर्षित कर सकें। पायल और झाँझनें यह काम बखूबी करती हैं, हैरानी है कि इन्हें आधुनिकाओं ने पहनना क्यों छोड़ दिया?

गेटी थीएटर के पास पहुँच गये हैं। यहाँ पर माल रोड के सौन्दर्य की क्रीम इकट्ठी हो कर नाटक, नृत्य तथा संगीत आदि कई किस्म के खेल देखती है।

पीछे क्या देखती हैं! ज़रा सामने देखिये—ये दो बहनें चली आ रही हैं। बिल्कुल एक जैसी शक्ल। जुड़वाँ दिखाई देती हैं। गेहुँआ रंग, चौड़ा गोलाकार चेहरा, ओंठों से झुक कर बात करती हुई सी नाक। गुलाबी ओंठ जब बात करने को खुलते हैं तो लगता है जैसे बन्द कमल की पत्तियाँ खुल गयी हों। नये फैशन सदा आप बहिनों का मुँह ताका करते हैं।

अब आप माल रोड की ऐसी जगह पर पहुँच गयी हैं जो बहुत मशहूर है। स्कैंडल प्वाइंट (Scandal Point) कहते हैं। युवक और युवतियाँ अपने-अपने मित्रों की प्रतीक्षा यहाँ किया करती हैं। यह जगह यदि

बोलने की शक्ति रखती तो शायद आप को अनेक प्रेम कहानियाँ सुनाती। देश के स्वतन्त्र होने पर इस स्थान के नाम का भी परिष्कार कर दिया गया है—स्कैंडल प्वाइंट से लाजपत राय चौक। अब रिज को जाने वाली सड़क और माल रोड के बीच लाला लाजपत राय का बुत खड़ा है। लाला जी का बुत और आकाश की ओर को उठी उनकी उंगली चाहे जो कहे, स्कैंडल प्वाइंट स्कैंडल प्वाइंट है।

स्कैंडल प्वाइंट से एक सड़क पोस्ट आफ़िस को होती हुई चली गयी है और उसके नीचे ढलान माल रोड की है।

पोस्ट आफ़िस के सामने की रेलिंग पर कुछ तमाशाई खड़े हैं। इन्हें कुछ काम नहीं। चलते मीना बाज़ार को खड़े खड़े देखना चाहते हैं, और देख भी रहे हैं।

आपको अंग्रेज़ी धुन सुनाई दे रही है। यह यहाँ के मशहूर रेस्तोराँ डेवीकोज़ से आ रही है। चलिये ऊपर ले चलूँ। आपको अंग्रेज़ी नृत्य नहीं आता तो आपका शिमले आने का मज़ा आधा रह गया। हो सके तो एक आध स्टेप सीख लीजिये, साम्बा या राम्बा!

डेवीकोज़ नहीं तो कॉफी हाउस ही चलिये, वहाँ बैठा जाय! आप थक गयी मालूम होती हैं। एक प्याला काफ़ी से सब थकावट दूर हो जायगी। आपकी निगाहें किसे ढूँढ रही हैं।......

अरे! यह शोर कैसा? सम्भवतः दो राजनीतिज्ञ एक दूसरे से उलझ गये हैं और काफ़ी हाउस को अपने भाषणों के लिये कम समझ कर खुले में जा रहे हैं!

यह कोमल स्त्रैण स्वर किस का है? ओह! उस मेज़ पर वे लम्बे बालों वाले कवि महाशय अपने मित्रों के कानों में सुधा रस उँड़ेल रहे हैं।

आप उठीं—कविता में आपको रुची नहीं!

और एक प्याला न लेंगी।

'नहीं।' तो चलिये एक चक्कर और लगाया जाय माल का!

वह दूर एक प्रौढ़ जोड़ा आपकी ओर देख कर मुस्कराता चला जा रहा है। उनके साथ चलने वाले स्मार्ट युवक पर से आपकी आँखें हटती ही नहीं, लाख यत्न करने पर भी! कहीं दाल में कुछ......

आप रुक गयीं। बातें करने लगीं। मेरी याद ही आपको नहीं रही। ओ-हो! मैं समझ गया, समझ गया। तो मैं चला। वह मेरी एक परिचित आ रही है, और......अच्छा नमस्ते......नमस्ते हि......हि हि हि।

पंखा-कुली

कड़ाके की धूप, लू के झोंके, बिजली का अभाव और उस पर पंखा खींचने के लिये किसी आदमी का न मिलना। कभी कभी तो सोचती हूँ, नरक में भी इतनी दिक़्क़त न होती होगी। दस बजे तक कोठी के कमरे बन्द न कर दिये जायँ तो वे भट्ठी की तरह तपने लगते हैं। बच्चों को सुलाकर स्वयं पंखा हिलाती हूँ—दस मिनट में ही बाहें दुखने लगती हैं, पसीना आ जाता है। वैसा श्रम करने की आदत जो नहीं।

जब से हमारी बदली यहाँ हुई है, बराबर किसी पंखा-कुली की तलाश में हैं, पर मिले भी! रामलाल 'उन' का मिस्त्री है। बेचारा पंखा-कुली के लिये सदा कोशिश करता रहता है। कुछ दिन हुए एक लड़का लाया; ताम्बे का सा धूप-जला रंग, छोटा सा क़द, कोई बारह तेरह-वर्ष का होगा। सिर के बाल तेल से खूब चिपचिपा रहे थे और खोपड़ी पर जूड़े की शक्ल में बँधे थे। नये कुर्ते के नीचे मैली तहमद पहन रखी थी। माँ ने, सम्भवतः यह सोचकर कि बेटा नौकरी पर जा रहा है, अपनी ओर से उसे

खूब सँवार कर भेजा था। तेल की मैल उसके माथे पर निचुड़ आयी थी और उसकी छोटी छोटी आँखों में चंचल पुतलियाँ कैदी पक्षियों-सी छटपटा रही थीं।

मैं सामने आई तो एक टाँग पर ही अपने शरीर का बोझ रखकर वह लाठी के सहारे खड़ा था। उसकी दूसरी टाँग पहली टाँग से साँप की तरह लिपटी हुई थी।

रामलाल ने उसकी पीठ को थपथपाते हुए कहा "यह तुम्हारी मालकिन हैं।"

"हूँ!" उस ने लापरवाही से सिर हिलाकर कह दिया।

मुझे पंखा-कुली मिलने की जो खुशी हुई थी, वह उसकी 'हूँ' से दबकर रह गई। मेरे स्वाभिमान को धक्का सा लगा, पर तो भी मैं ने वे सब साधारण प्रश्न किये जो एक नौकर रखते समय किये जाते हैं?

"तुम्हारा नाम क्या है?"

"घर वाले चन्दू कह कर पुकारते हैं और बाहर वाले चन्दन सिंह।"

"मैं तुम्हें क्या कहकर पुकारूँ?"

"चन्दन सिंह, और क्या? तुम घर की थोड़ी हो!"

मैं उसकी भोली और सयानी बात सुनकर मुस्करा दी और बोली, "कौन से गाँव में रहते हो?"

"मेरा गाँव नहीं मालूम तुम्हें?" वह कुछ आश्चर्य से मेरी ओर देखकर बोला, "इमली गाँव के गिर्द चार चार कोस में जिनके खेतों में ईख लगी है, वे सब मुझे और मेरे गाँव को अच्छी तरह जानते हैं। बेचारों को बापू से शिकायत करने जो आना पड़ता है।"

रामलाल बेचारा झेंप रहा था कि कैसा जंगली लड़का ला कर खड़ा कर दिया है, जिसे तमीज़ से बोलना तक नहीं आता। डाँट कर लड़के की ओर देखा "ठीक ठीक जवाब दे!"

वह शेर की तरह गुर्राया और रामलाल की ओर देखकर बोला, "जो पूछती है जवाब देता हूँ ! और ठीक जवाब कैसे दूँ ! झूठ बोल दूँ क्या ? तुम भी तो भागे भागे गये थे बापू के पास जब एक गन्ना तोड़ा था तुम्हारे खेत का—न भाई न ! माँ ने कहा है झूठ बोलने से पाप लगता है, झूठ बोल कर नौकरी मिलती हो तो हमें नहीं चाहिये ।" यह कह कर वह अकड़ कर खड़ा हो गया "एक लुगाई के सामने झूठ बोल दूँ ! चौधरी हो तो बात भी है ।"

मैं कह नहीं सकती क्यों मुझे गुस्सा नहीं आया, सोच रही थी शहर के बँधे-घुटे वातावरण में पलने और गाँव की स्वतन्त्र फ़िज़ा में साँस लेने में कितना अन्तर होता है ?

पर रामलाल को गुस्सा आ गया, कोहनी का ठहोका दे कर बोला "तमीज़ से बात कर नहीं तो......"

"कोई बात नहीं रामलाल, आखिर बच्चा ही तो है ।" मैंने कहा और चन्दू की ओर देख कर बोली "अच्छा ! तुम झूठ चाहे न बोलो ! अब यह बताओ कि क्या पंखा-कुली की नौकरी करोगे ?"

"कुली-वुली मैं नहीं बनने का ! माँ ने कहा था रस्सी खींचने की नौकरी है—रस्सी के साथ पंखा लगा होगा । मैंने डंडी वाला पंखा देखा है, और वैसा पंखा हमारे घर है भी ! सोचा चलो रस्सी से चलने वाला पंखा भी देख लें—पर तुम तो कहती हो कुली बनना पड़ेगा । न भाई न ! अपना लहना सिंह भी तो शहर में कुली बन पाँव कटवा आया था ! मैं कुली नहीं बनने का ! रस्सी से पंखा खिंचवाना हो तो दूसरी बात है ।

मुझे हँसी आने को थी, पर इस भय से कि कहीं यह गँवार इसमें अपना अपमान समझ कुछ फ़िज़ूल की बात न कह दे और मैं अपने क्रोध को काबू में न रख सकूँ, मैं अपनी हँसी रोक कर बोली "रस्सी ही से पंखा खींचना होगा ! करोगे नौकरी ?"

"करके देखेंगे !" मानो मुझ पर बड़ा अहसान करने जा रहा हो।

जो भी हो, पर उस समय तो इस विचार ने कि पंखा कुली मिल गया, बड़ी तसल्ली दी। ऐसा लगा जैसे कोई बड़ी समस्या हल हो गई हो।

पहले पहल जब उस ने पंखा देखा तो बड़े आश्चर्य से आँखें फाड़ पंखे की ओर देखता ही रह गया। घबरा कर बोला, "हैं ! हैं ! इतना बड़ा पंखा।—खैर ! मैंने भी बल्लियों को कन्धों पर उठाया है, यह कह उस ने पंखे को ज़ोर से खींचा—और गिरते गिरते बचा—"धत् तेरे की ! देखने में तो खूब लम्बा चौड़ा है, पर ज़ोर तो ज़रा भी नहीं !"

पहले वह खूब ज़ोरों से खींचता रहा और फिर धीमा पड़ गया।

कोठी के किवाड़ बन्द किये तो अंधेरा हो गया। उसे बहुत विचित्र सा लगा और बोला—"तुम्हें दिन को अँधेरा अच्छा लगता है ! रात शायद तुम्हें अच्छी लगती होगी। मुझे तो रात ज़रा भी पसन्द नहीं। रात भर सोना पड़ता है ! लहना, गोविन्द और सब को सोना पड़ता है। पर हाँ ! एक बात है, अगर किसी के खेत के गन्ने तोड़ने हों तो—अँधेरी रात अच्छी रहती है", वह बोल तो ऐसे रहा था मानो मुझे कुछ समझा रहा हो।

वह कुछ देर चुप रहता और फिर बोलना शुरू कर देता। मैंने बच्चों को सुलाया और सोच रही थी कि आज अवश्य कुछ चैन की नींद मिल जायगी। मेरी आँख लगने को थी कि वह बोल उठा "छुट्टी कब दोगी ?"

"पाँच बजे" कह फिर आँखें मूंद लीं।

"स्कूल में भी चार बजे छुट्टी हो जाती है और नौकरी में पाँच बजे ! मैंने तो स्कूल ही इसलिए छोड़ दिया था ! कुछ क्षण वह चुप रहा फिर बोला, "माँ कहती थी कि स्कूल जाने से बाबू बनते हैं—पर नौकरी करने से क्या बनते हैं ?"

मैं उसका प्रश्न सुन चौंक उठी और चुप रह गई। कहती भी क्या— यही ना कि नौकरी करने से पंखा कुली कहलाते हैं! धीरे से बोली, "तुम स्कूल जाया करो!"

"स्कूल? स्कूल कैसे जाया करूँ? मास्टर जी का गोल-गोल काला-मोटा रूल नहीं देखा तुम ने, जभी कहती हो! एक दिन मास्टर जी के मकान के पास से क्या निकले कि वो कहने लगे तुम ने मेरे खेत की ककड़ियाँ तोड़ ली हैं। दूसरे दिन उन्होंने रूल से खूब पीटा। मैं नहीं गया स्कूल उसके बाद—और फिर स्कूल में चार बजे तक बैठना जो पड़ता है।

पंखा खींचना उसने लगभग बंद कर दिया था।

मैं आँखें मूँद कर ही उसकी बातें सुन रही थी, सो उसी प्रकार बोली "पंखा खींचते चलो और बातें मत करो।"

न जाने कैसे वह अब की बार उत्तर दिये बिना ही चुप रह गया। आँख लगने ही वाली थी कि फिर बोला "वक्त क्या है?" उसके प्रश्न से रौब की गन्ध आ रही थी और ऐसा जान पड़ता था मानो प्रश्न करना उसका अधिकार है।

खीज तो ज़रूर उठी, पर उसके गँवारपन का ध्यान कर बोली, "तीन बजे हैं!—चुप चाप पंखा हिलाओ!"

उस पर मेरे इन शब्दों का असर क्यों होता? झट बोल उठा "आगे तो इस समय पाँच बज जाया करते थे! गाँव में तो चुटकी में साँझ हो जाती है, तुम्हारी कोठी में तो साँझ हो ही नहीं रही। घंटों समय बीत गया और तुम कहती हो अभी तीन ही बजे हैं।"

बहुत बुरी हालत थी उस बेचारे की।

यह सोच कि कहीं नौकरी ही न छोड़ दे, मैं बड़े मधुर स्वर में बोली, "बच्चों को उठ लेने दो, तभी छुट्टी दे दूँगी!"

"बच्चे भला क्यों उठने लगे। उनको तो ठण्डी ठण्डी हवा लग रही

है ! वो तो रात भर नहीं उठेंगे। खेलते नहीं हैं यह बच्चे? बीमार हैं क्या?"

मुझे उस पर गुस्सा भी आ रहा था और हँसी भी। गुस्सा उसकी मूर्खता और हँसी उसके भोलेपन पर।

"अच्छा, अब तुम्हें छुट्टी!" यह कह कर मैं पंखा स्वयं हिलाने लगी। "कल ज़रूर आना, कल भी इसी समय छुट्टी दे दूँगी!"—यह सोच कर कि धीरे धीरे उसे आदत पड़ जायगी और बाद में आराम मिलेगा, मैंने उसी समय उसे छुट्टी दे दी।

छुट्टी दे कर मैं समझ रही थी कि मैंने अपनी उदारता का परिचय दिया है, पर उसने भी मुझ पर कम उदारता नहीं दिखाई—वह फिर कभी नहीं आया।

कम्पनी

शिमले में अपने एक मित्र का मेहमान बन कर आया हूँ। मेरा यह मित्र ऊँची श्रेणी के परिवार से संबंध रखता है, और मैं?—मैं एक मध्य श्रेणी का श्रमजीवी प्राणी हूँ। मेरी और उनकी बोल-चाल, खान-पान, रहन-सहन के ढङ्ग में ज़मीन आसमान का अन्तर है। उनके शिष्टाचार से मैं नितांत अपरिचित हूँ। पर अब आ गया तो सोचा कि इनके यहाँ रुकना ही है तो क्यों न इनके शिष्टाचार के नियमों और एटीकेटों को सीख लूँ!

सबसे पहली बात जो मैंने इन लोगों से सीखी, उसका नाम है तकल्लुफ़! इनका आधा जीवन तो तकल्लुफ़ में ही बीत जाता है और मज़े की बात यह है कि दिन में कई बार दुहराया जाता है कि हमें आपस में तकल्लुफ़ नहीं करना चाहिए।

पहले मैं शब्दों के असली अर्थों को ठीक मान कर चलने की कोशिश करता था, पर दो चार पटख़नियाँ खाने पर पता चल गया है कि सभ्य समाज

में उलटे अर्थ ही सही माने जाते हैं, याने कि 'हाँ' का मतलब 'ना' और 'ना' का मतलब 'हाँ'।

जिस दिन मैं शिमले आया, उसी दिन की बात है—खाना खाते समय जब मेरे मित्र की बहिन ने तरकारी का डोंगा पेश किया तो मैंने निसंकोच अपनी प्लेट भर ली और कहने ही जा रहा था, "माफ़ कीजिए! मुझे कुछ ज़्यादा तरकारी खाने की आदत है!"...कि ठीक उसी समय नज़र अपने मित्र की ओर गई, वह मुझे ऐसी दृष्टि से तक रहा था जैसे मुझसे कोई भारी अपराध हो गया हो। सोचा—ज़रूर मेरा तरकारी लेने का ढङ्ग ग़लत है। बात भी यही थी। मेज़ पर बैठकर खाना खाते समय यदि तरकारी पेश की जाय, तो बिना सोचे आपकी ज़बान पर आना चाहिए, "जी! पहले आप; लेडीज फ़र्स्ट; नो फार्मेल्टी"—आदि-आदि!—और उस पर किसी लड़की के तरकारी पेश करने पर तो आप तब तक 'लेडीज़ फ़र्स्ट' दुहराते आइए, जब तक वह मान न जाय।

कम्पनी का अच्छा अंग बनने के लिए बस यही कुछ इने-गिने नियम हैं। इन नियमों को सीखने के लिए मुझे कई पुरानी आदतों को छोड़ना पड़ा। कभी-कभी सोचता हूँ शायद यह सौदा मुझे महँगा पड़ा। फिर ख़्याल आता है जब लोग प्रायः कम्पनी के लिए शराब तक पीना शुरू कर देते हैं तो मैं क्या छोटे मोटे एटीकेट भी नहीं सीख सकता? न चाहने पर ताश नहीं खेल सकता या सिनेमा थीएटर नहीं जा सकता?

देखा जाए तो वैसे भी जब कोई सुन्दरी शब्दों में शहद का इन्जेक्शन देकर, घूमने, सिनेमा जाने या ताश खेलने का आदेश दे तो मनाही करना आम आदमी के बस की बात नहीं। कम्पनी में तो मनाही की बात सोचना भी पाप है!

हाल ही की बात है, कुछ समवयस्क साथियों की कम्पनी में बैठा था। बातों बातों में किसी ने सिनेमा देखने का प्रस्ताव किया। सब जाने को

राज़ी हो गये, पर मैं न जाना चाहता था। मैंने उस चित्र के भद्देपन की आलोचना सुन रखी थी। मेरे मना करने पर मेरा मित्र बोला, "हम सब के लिए चले चलो!"

दूसरा साथी सानुरोध बोला, "तुम नहीं चलोगे तो हम नहीं जायेंगे!"

"जब सब लोग अनुरोध कर रहे हों तो फजूल की ज़िद भी नहीं किया करते!" मेरे दोस्त की बहिन समझाते हुए बोली।

और उस दिन मैं बिना हठ किए उनके साथ चला गया। पर्दे पर चल-चित्र देख रहा था, पर दिल-दिमाग़ दोनों उस चित्र के निर्माता को गालियाँ दे रहे थे। लेकिन मैं अकेला न था। मेरे साथी फ़िल्म में बड़ा रस पा रहे थे। जब कभी चित्र में किये जाने वाले किसी मज़ाक पर सब लोग हँस देते तो मैं भी उनकी कम्पनी के ख्याल से खीसें निपोर देता। इस बरबस हँसी के कारण पैदा होने वाले तनाव से कभी कभी ऐसा लग रहा था मानों भीतरी क्रोध और बाहरी हँसी के दो पाटों में मैं बेतरह पिस जाऊँगा। पिक्चर खत्म होते न होते सिर दर्द होने लगा। फिर भी जब वे मेरी ओर देखते, मैं फुर्ती से ओंठों पर हँसी बखेर, उनकी प्रशंसा का समर्थन कर देता।

सिनेमा से वापस आते समय वे लोग चित्र के मज़ाकों को दुहरा कर लोट-पोट होते जा रहे थे और इधर सिर दर्द से मेरी बुरी हालत थी। लेकिन अब समस्या यह थी कि कैसी बातें की जाएँ जिससे उन्हें पता भी न चले कि मुझे सिर दर्द है।

घंटों की खोखली गपशप और सिर दर्द के बाद कुछ नये एटीकेट सीखे। और कई गलतियाँ करने के बाद अब सोचने लगा हूँ कि इन नये सीखे नियमों और एटीकेटों में भी सिद्धहस्त होता जा रहा हूँ। आज इनके

सीखने में कितनी ही दिक़्क़त क्यों न हो, पर मुझे पूरा विश्वास है कि कभी न कभी इनके चमत्कार भी देखने को मिलेंगे।

इसके बाद मैं इन नये सीखे नियमों पर इस प्रकार आचरण करने लगा जैसे कोई पालतू बन्दर अपने मालिक के इशारों पर नाचता है।

उन्हीं दिनों एक मज़े की बात हुई—बरसात का मौसम था; शिमले की बरसात तो अपना ही महत्व रखती है। धुली और साफ़-सुथरी पहाड़ियों को बादल इस प्रकार ढके रहते हैं जैसे दुल्हनों के गोरे-चिट्टे चेहरों को हवा में डोलते हुए घूँघट। फिर जैसे उन घूँघटों से चन्द्र-मुख झलकने लगते हैं; चमकते, प्रसन्न और आशान्वित!

उस दिन चारों ओर धुँध छाई हुई थी! मुझे ऐसे मौसम में या तो घूमना पसन्द है या फिर रज़ाई में बैठ कर उपन्यास पढ़ना। मैंने एक दोस्त को बुला भी रखा था कि यदि वह आये तो इकट्ठे घूमें। पर मैं तो धुँध से घिरे पहाड़ सा अपने साथियों में घिरा हुआ था। मेरे साथियों को ऐसे मौसम में ताश से भली कोई चीज़ नहीं लगती। एक बोला, "यह मौसम तो भगवान ने रमी ही के लिये बनाया है।"

और रमी के दौर चल पड़े। साथ में आधुनिकतम चल-चित्र पर आलोचना; उस तारिका की देह यष्ठि की सौन्दर्य रेखाओं पर टिप्पणी; अंग्रेज़ी नृत्य करते समय नायक के शरीर में आने वाली लोच की तारीफ़, ताश सिगरेट और गप्पों की काकटेल (Cocktail)—मित्र विभोर हो उठे!

बाहर बूंदा-बूंदी होने लगी। टीन की छत पर टप-टप का शब्द हमारे ताश के खेल के लिये संगीत का काम दे रहा था......

"बारिश भी क्या चीज़ है?" हमारे एक साथी बोले। मैं सोचने लगा शायद वर्षा-ऋतु के सौन्दर्य पर कुछ कहने जा रहे हैं, पर पत्ता फेंकते हुए झट बोले, "ताश का असली मज़ा तो इसी मौसम में है!"

मेरी कल्पना को धक्का सा लगा, पर प्रयत्न कर, अपनी कल्पना के तन्तुओं को रबड़ की भाँति खींचकर बोला, "अरे साहब ताश के क्या कहने! एक बार लगातार तीन दिन वर्षा होती रही और मुझे याद है कि हम तीनों दिन ताश ही खेलते रहे।" बात ख़त्म करते ही मैं ज़ोर से ठहाका मार कर हँस दिया कि हँसी के पटाखे को आग लगाई है, सो धमाका तो होगा ही—पर मेरा कोई साथी मुस्कराया तक नहीं। मेरी गप की क़ीमत भी वसूल न हो सकी। असल में मैंने देखा था कि इन ऊँचे किस्म के लोगों में प्रत्येक व्यक्ति बढ़िया से बढ़िया गप सुना कर अपने आपको हीरो बनाना चाहता है। आज मैं भी इसी चक्कर में था, पर बात नहीं बनी। सो आज मालूम हुआ कि गप्पें हाँकना भी कोई आसान काम नहीं; अभ्यास से ही आता है।

—तो हम रमी खेल रहे थे। रमी दो आदमी भी खेल सकते हैं और तीन भी। यदि चौथा आदमी भी आ टपके, फिर भी कोई हर्ज नहीं! इतना ज़रूर है कि जहाँ पहले एक ताश से खेला जा सकता है, अब दो ताशें ज़रूरी हो जाती हैं। मैं चौथा आदमी था और यदि न रहता तो भी रमी चलती रहती—ब्रिज, स्वीप आदि ताश के अन्य खेल अवश्य रुक सकते हैं, परन्तु रमी नहीं—मगर अपने साथियों के अनुरोध और आग्रह पूर्ण शब्दों के कारण मैं सोचने लगा कि मेरे बिना रमी ही क्या, शायद कुछ भी न चल सके।

ताश का पत्ता उठाया था कि अनजाने नज़र खिड़की की ओर चली गई—बादल छट रहे थे; सूरज की किरणें बादलों को भेदती, अपना रास्ता ढूँढ़, थके बटोही की भाँति पर्वत शृङ्खलाओं पर जा विश्राम करतीं। प्रकृति के दृश्य में मैं खो-सा गया और अपने उस मित्र के बारे में सोचने लगा जो अभी आने वाला था। उसे मेरी ही भाँति घूमना पसन्द है, बस हम खूब घूमेंगे, रिज पर जाएँगे; छोटा शिमला; संजोली जायेंगे, जाखू का चक्कर लगाएँगे।

"बहुत देर लगाते हो यार! पत्ता उठाकर बैठ ही जाते हो!" मेरा एक साथी कह रहा था। मैं चौंका और पत्तों की ओर देखने लगा। घबराहट के कारण गलत पत्ता फेंक दिया; काफ़ी नम्बरों से हार गया।

लेखक बन कर सिर्फ़ कलम घिसाने की राय दी गई। खीझ कर उठना चाहता था कि कई व्यंग कसे गये। अंग्रेजी की कई उपाधियाँ दी गईं--टची, सैंटीमेंटल आदि आदि.......

अब निश्चय किया, बाहर न देखूँगा। मुझे उस समय प्रकृति के बदलते रूप में नहीं, ताश के बदलते पत्तों में ही आनन्द ढूँढना था। अब यदि गलती से मैं जीत जाता, तो फिर क्या है, जब तक सब कुछ हार न जाऊँ, उठना मुश्किल हो जाता।

मेरे मित्र ने अपने आने की सूचना नौकर द्वारा भेजी। मेरी खुशी का वारापार न था कि अब तो यहाँ से छुटकारा मिलेगा, और कुछ क्षण अपनी मर्ज़ी से बिता सकूँगा। अंग्रेजी में माफी माँग उठने जा रहा था कि मेरे एक साथी ने स्लैंग* का प्रयोग करते हुए कहा, "अपने मित्र को जल्दी 'डौज'‡ देकर आ जाना।"

मैं कुछ कहना चाहता था कि दूसरा बोला, "तुम्हारे बिना तो महफ़िल जमती नहीं। जरूर आना, नहीं मज़ा किरकिरा हो जाएगा।"

तीसरे ने भी डिटो किया याने कि उसी प्रकार आग्रहपूर्ण शब्दों का प्रयोग किया। यद्यपि अब मैं जान गया हूँ कि उनके इन गढ़े हुए शब्दों का अर्थ कुछ भी नहीं था। ऐसे शब्द तो प्रायः सब के लिए ही प्रयुक्त किये जाते हैं, परन्तु तब उनके इस आग्रह का मुझ पर पूरा पूरा असर हुआ और मैंने जिस मित्र को स्वयं बुलाया था, उसे टालने का निश्चय कर लिया।

---

*स्लैंग = अंग्रेज़ी जो लिखी नहीं, बोली जाती है।

‡ डौज देना = टाल देना।

बढ़िया सा बहाना बना, अपने मित्र को टाल कर वापस आ रहा था कि किवाड़ तक पहुँचते पहुँचते अपने साथियों के हँसी-मज़ाक में अपना नाम सुना। रुक गया। मेरे सम्बंध में ही बातें हो रही थीं :

"महा-बोर है।" पहला कह रहा था।

"समझता है शायद हम उसके बिना रमी खेल ही नहीं सकते।"

"अपनी ओर से जोक्स (मज़ाक) सुनाता है, कोई पूछे कि भेजे में अक़ल भी है मज़ाक समझने की।"

"और देखो मज़ा, अभी फिर वापस आ टपकेगा। जोंक की तरह चिपट गया है यार। अजीब......" तीसरे व्यक्ति ने गाली दी।

मैं उल्टे कदमों वापस फिरा। मित्र निराश हो लौट गया था। दूर न था, पर धुँध में उसे ढूँढ पाना कठिन था। मैं चुप चाप चल पड़ा। अकेला और उदास। सोचने लगा, अब कम्पनी में बैठने के एटीकेट बहुत सीख लिये हैं, अब मुझे शिमला से चल देना चाहिए।

चाबियों का गुच्छा

साढ़े पाँच बजे रमेश आफ़िस से लौटा। आँगन में ही अपनी नव-परिणीता पत्नी को मशीन पर कपड़े सीते देखा तो खीज कर बोला, "आफ़िस जाते समय न जाने कितनी बार कहा था, साढ़े पाँच बजे ज़रूर तैयार हो जाना, चाय पीकर सिनेमा चल देंगे।"

रमेश ने साइकल को बराँडे की दीवार से टिका दिया। अनुराधा के पास आ, मुस्कराकर, सिलाई में व्यस्त उसके चेहरे को ज़रा ऊपर करके वह बोला, "मशीन चलाते समय तो अच्छी खासी गृहणी लगती हो!"

अनुराधा ने लज्जा से मुख नीचा कर लिया। लज्जारुण चेहरे ने अनुराधा की सुन्दरता पर चार चाँद लगा दिये। मशीन का ढकना चढ़ाकर, अपनी धोती का पल्लू सम्हालते हुए अनुराधा बराँडे से कमरे की ओर चली।

रमेश भी कमरे में आया। सामने दो चारपाइयाँ बिछी थीं जिन पर हल्के नीले रंग के बैड-कवर बिछे थे। कमरे में बायीं ओर बेंत

की दो कुर्सियाँ और एक मेज़ पड़ी थी। रमेश ने अपना हैट खूँटी पर टाँगा और थके शरीर को कुर्सी पर ला पटका। उसने अपने उत्सुक नेत्र अनुराधा पर लगा दिये। अनुराधा के चेहरे पर सदा की भाँति मुस्कान विद्यमान थी।

कमरे के एक कोने में पड़े ट्रंकों में अलट-पलट अनुराधा न जाने क्या खोज रही थी—चिन्तित मुख मुद्रा लिये ट्रंकों को आगे पीछे सरकाती! रमेश अभी तक तो अपनी पत्नी का घबराहट भरा कार्य-कलाप देख कर रस ले रहा था, परन्तु एकाएक उसका ध्यान घड़ी की ओर गया। पाँच बजकर चालीस मिनट हो गये थे। घबराकर बोला, "क्यों जी! क्या कुछ खो गया।"

अनुराधा को इस घर में आये एक हफ़्ता हो चला था, परन्तु अभी तक बात करते संकोच करती थी। लज्जा और संकोच की लाली उसके चेहरे पर झलक उठी और अपनी साड़ी का पल्लू दाँतों में चबाकर बोली, "चाबियों का गुच्छा नहीं मिल रहा, इसीलिये तैयार नहीं हो पाई।" और एक बार फिर उसे ढूँढने का यत्न करने लगी।

रमेश के हँसमुख चेहरे से, भरी हुई बोतल से लुढ़कने वाले शहद की भाँति हँसी प्रकट हुई और वह बोला, "इस में घबराने की क्या बात है। चाबियों का खो जाना तो घर बनने की पहली निशानी है। गृहस्थ-जीवन नीरस हो जाय यदि घर में चाबियाँ न खो जाया करें। अच्छा! चलो, हम भी ढूँढने में तुम्हारी सहायता करते हैं!" यह कह कर रमेश अपनी कुर्सी से इस प्रकार उठा, जैसे कोई मैदान सर करने उठा हो। जुट गया चाबियों को ढूँढने में। चारपाईयों के ऊपर, चारपाईयों के नीचे, कुर्सियों के आगे पीछे, ट्रंकों के नीचे ऊपर—याने कमरे का कोना-कोना उसने छान मारा, परन्तु चाबियों का गुच्छा कहीं न मिला।

एकाएक उसकी नज़र फिर घड़ी की ओर गई और उसने देखा, छः बजने में पाँच ही मिनट रह गये हैं। रमेश निराशा से सिर हिलाकर बोला, "श्रीमती जी(इस प्रकार वह बोल रहा था मानो किसी नाटक में अभिनय कर रहा हो) अब और ढूँढना बेकार है! यदि चाबियाँ मिल गईं, तो भी किसी काम की नहीं!—आप आध घंटे से कम क्या लेंगी शृङ्गार में।—फिर चाय—पन्द्रह मिनट—घर से निकलने की तैयारी पाँच मिनट और ताँगे वाला दस मिनट तो लेगा ही—ठीक एक घंटा और चाहिये! तब तक तो पिक्चर समाप्त हो जायगी।" रमेश कुर्सी पर आकर बैठ गया और हताश भाव से बोला, "चुन्नीलाल और उसकी पत्नी से आने को कह आया हूँ। टिकट लेने के लिये चुन्नीलाल को पैसे भी दे आया हूँ। अब क्या होगा? (अनुराधा की ओर देखकर) अजी-ओ! अब देखती क्या हो! एक मिनट ज़रा हमारे पास तो पधारो!" गर्व और संकोच का कितना सुन्दर मिश्रण होता है शादी के बाद; कभी आदर की भावना जागती है और फिर अधिकार का विचार आता है।

"हाँ! तो क्या कहा जाय चुन्नीलाल जी से?" रमेश उत्तर की प्रतीक्षा कर, बोला, "यदि कहा कि हमारी श्रीमती जी की चाबियाँ खो गई थीं तो वह राई का पहाड़ बनाकर जाने क्या कुछ व्यंग कसेगा!" रमेश क्षण भर को चुप हो गया, फिर कुर्सी की बाँह पर कोहनी रखकर बालों को उँगलियों से खुजलाते हुए बोला, "कुछ ऐसी बात कही जाय कि आगे से जवाब ही न दे सके!"

"......लो सूझ गया।" रमेश ने कुर्सी की बाँह पर हाथ मारते हुए कहा, "कह आता हूँ कि हम नहीं आ रहे।......पर वह पूछेगा क्यों नहीं आ रहे?"

अनुराधा भी अब सामने वाली कुर्सी पर आ कर बैठ गई थी। पति और पत्नी मिलकर जीवन की पहली गम्भीर समस्या पर विचार करने लगे।

अनुराधा का संकोच भी कुछ दूर हुआ और वह बोली, "जाकर कह

दीजिये कि दफ़्तर से आने में देरी हो गई। घर जा ही नहीं सका। सीधे दफ़्तर से सूचना देने आ रहा हूँ।—और क्षमा माँग लें!" कितनी भोली लग रही थी अनुराधा यह कहते समय!

"वाह वाह! बहुत खूब रही! अपना सारा कसूर मेरे मत्थे मढ़ दिया। चाबियाँ आपकी खो गईं, तैयार आप नहीं हो सकीं और हम कहें कि दफ़्तर से आने में देर हो गई। यह भी खूब रही! आफ़िस से उसके सामने ही उठा था। जल्दी कोई और बहाना बनाओ—बहाने बनाने में काफ़ी चतुर दीख पड़ती हो।"

अनुराधा शरमा कर, इस अभियोग के विरुद्ध सत्याग्रह करने के लिये उठने ही लगी कि रमेश ने हँसी का फौव्वारा छोड़ दिया, "हा हा हा!–हि हि हि! हो हो हो!" और हाथ पकड़ कर अनुराधा को बैठाते हुए बोला, "बस! इतनी सी बात पर नाराज़ हो गईं! नाराज़ होने के लिये तो अभी सारा जीवन पड़ा है। अभी से अभ्यास करने की कोई आवश्यकता नहीं, अब जल्दी से कोई उपाय बताओ! उपाय, बहाना नहीं।"

अनुराधा चुप थी।

रमेश ने लखनवी अन्दाज में अदा से कहा, "अजी साहेब कुछ फ़र्माइये भी!"

अनुराधा धीमे स्वर से कहने लगी, "उन्हें कह आइये कि तैयार हो कर खड़े थे, ताँगा ही नहीं मिला। सवा छै बज गये तो मजबूरन साईकल पर सूचना देने आया हूँ।"

"ऊँ–हूँ! इस से भी काम नहीं चलेगा, वह झट बोल उठेगा—क्या चार क़दम पैदल चलने से तुम्हारी मेम साहेब के पाँव की मेंहदी उतर जाती?—नहीं यह भी नहीं, कुछ और अक़ल लड़ाओ," शरारत भरी मुस्कान ओंठों में दबा कर रमेश बोला, "बहाना बनाने को नहीं कह रहा, अक़ल लड़ाने को कह रहा हूँ।"

कुछ देर तक रमेश और अनुराधा गम्भीरता से सोचते रहे। एकाएक रमेश चुटकी बजा कर बोला, "ठीक! अब याद आया! उससे कहूँगा कि आज मैं आफ़िस से लौटा तो पत्नी को बुखार था मैं उसका लाल चेहरा देखकर घबरा गया। वह तो आ न सकती थी और उसे अकेले छोड़कर मेरा यहाँ सिनेमा देखना मुश्किल है। घर में और कोई है नहीं। सो आज आप क्षमा करें! सोचा आप खड़े खड़े इन्तज़ार ही न करते रहें, इसलिए साईकल पर आप को सूचना देने आ गया हूँ।–क्यों कैसा रहेगा यह बहाना।"

"बस बहुत ठीक।" खुशी की एक लहर अनुराधा के चेहरे पर दौड़ गई, मानो बड़ी भारी समस्या हल हो गई हो।

अनुराधा ने हमेशा की तरह साईकल बराँडे से बाहर करने में रमेश की सहायता की। साइकल के पैडल मारते हुए रमेश सोचने लगा—आख़िर कितनी मामूली सी चीज़ है यह चाबियों का गुच्छा, परन्तु समय और परिस्थिति के अनुकूल इनका कितना अधिक महत्व हो जाता है। सिनेमा का सारा प्रोग्राम खराब हो गया, बहाना बनाना पड़ा और अब यह साइकल की दौड़!

साइकल चली जा रही थी। साइकल के सामने एक ताँगा जा रहा था। ताँगे की पिछली सीट पर एक पुरुष और एक स्त्री बैठे थे। रमेश ने अनुमान लगाया कि अवश्य पति-पत्नि होंगे और सम्भवतः सिनेमा देखने ही जा रहे हैं। ठण्डी साँस भर कर वह सोचने लगा—सिनेमा देखने तो मैं भी आज जा रहा होता! और इसी प्रकार मेरी पत्नी भी पिछली सीट पर मेरे पास बैठी होती–परन्तु चाबियों का गुच्छा जो खो गया। मन ही मन वह दाँत पीसकर रह गया।

वह सिनेमा हाल पहुँचा तो एड़ी उठा उठाकर चुन्नीलाल की गंजी खोपड़ी और प्रेमचन्द नुमा मूछों को ढूँढने लगा। चुन्नीलाल दीवार से सटा खड़ा था। उसकी आँखें भी किसी की खोज में थीं। शायद रमेश को ही देख रही थीं।

प्रेमचन्द नुमा मूँछों को हँसी में भिगोकर चुन्नीलाल कुछ कहने ही वाला था कि रमेश अपना रटा हुआ पाठ उगलने लगा, "आज जब मैं आफ़िस से लौटा तो बुखार के कारण अपनी पत्नी का लाल चेहरा देखकर घबरा गया। सो वह तो आ नहीं सकी और मेरा उसे अकेला छोड़ कर यहाँ बैठना कठिन है। घर में और कोई है नहीं। सो आज आप क्षमा करें। सोचा आप इन्तज़ार ही न करते रहें, इसलिये खबर देने आ गया हूँ।"

"ओ—हो! भाभी जी बीमार हैं? भाई! आज तो खूब रही! हमारी धर्म पत्नी भी आज नहीं आ सकीं, और जानते हो क्यों?" प्रश्न-सूचक-मुद्रा बना कर चुन्नीलाल हँसने लगा।

"क्यों? क्या बात हो गई?"

"बड़ी पुरानी आदत है औरतों की। अभी तो तुम्हारी नयी नयी शादी हुई है! बहुत जल्दी ही इसका अनुभव होगा।"

"क्या आदतें हैं औरतों की और कैसा अनुभव?" रमेश ने चुन्नीलाल के कन्धे पर हाथ रखकर कहा।

"क्या बताऊँ, कहीं बाहर निकलना हो तो इन औरतों की चाबियाँ गुम हो जाती हैं"! चुन्नीलाल बोला, "सो आज चाबियाँ खो गईं और श्रीमती तैयार नहीं हो सकीं। पर हाँ! तुम ने क्या कहा, भाभी जी बीमार हो गईं! आते ही बीमार कर दिया! मियाँ सम्हल कर काम लो......

सहसा रमेश ठहाका मारकर हँस उठा।

"पर तुम तो हँसे जा रहे हो! क्या बात हो गई!" चुन्नीलाल हैरानी से रमेश को इस प्रकार हँसते देख कर बोला, "आख़िर बताओ भी या हँसे ही जाओगे।"

अरे भाई बात यह है कि तुम्हारी भाभी को भी चाबियों के गुम होने ही का बुखार है।" और रमेश ज़ोर से हँसा। लेकिन उसकी हँसी को चुन्नीलाल के ठहाके ने आकाश भेदी बना दिया।

मनोविज्ञान का वेत्ता

किसी नये शहर को जाना हो तो सब से पहले उस शहर के गली कूचे में अपनी बुद्धि के अश्व को किसी परिचित व्यक्ति की खोज में दौड़ाया जाता है। परिचित व्यक्ति मिला नहीं कि बात बन जाती है, रहने और खाने की समस्या हल हो जाती है।

अपने परिचित व्यक्तियों के यहाँ रुकने का असूल मेरा ही नहीं, मेरे पिता जी का भी है। हमारे कुटुम्ब में ही नहीं, सारे भारत में इस स्वर्ण-सिद्धान्त पर समान-रूप से अमल किया जाता है।

लोगों के घर जाकर ठहरना मुझे ज़रा भी पसन्द न था। यह और बात है कि पिता जी के कारण परिचित व्यक्तियों के सिवा और कहीं ठहरने का मौका ही नहीं मिला। लेकिन इधर जब से मनोविज्ञान में मेरी रुचि हुई, मुझे स्वयं परिचितों में ठहरना अच्छा लगने लगा। भिन्न-भिन्न लोगों पर मनोविज्ञान के नये-नये सिद्धान्त आज़माता हूँ और रस पाता हूँ।

शिमले की क्रीम

मुझे पी० सी० एस० के इन्टरव्यू में पेश होने के लिये शिमले जाना था—और जाना ज़रूरी था। समस्या यह थी कि वहाँ रुका किस के पास जाय? पिता जी काफ़ी देर सोचते रहे कि शायद कोई जान पहचान का आदमी निकल आये। जब कुछ भी सोच न पाये तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई कि अब की बार तो बेटे को होटल में ही ठहरना पड़ेगा। मैं स्वयं होटल में ठहरना चाहता था। यह मेरे लिये एक नया अनुभव होता, जिसकी इच्छा मुझे कई दिनों से थी।

मैं एक तरह से निश्चिन्त था और शिमले के होटल में अपने निवास के प्रोग्राम बनाने लगा था कि अनायास शाम को दफ़्तर से लौट कर पिता जी ने कहा "सुनो जगत! तुम्हारी चाची के भाई राजेन्द्र का ससुर है न। वह शिमला में रहता है!"

मैं मुँह बाये उन्हें देखता रह गया।

थोड़ी देर सोच कर वे फिर बोले "मगर वहाँ मत रुकना।"

पिता जी के यह कहने पर मेरी उत्सुकता बढ़ गयी और मैं बोला "क्यों?" मुझे आश्चर्य हो रहा था, आखिर उन महाशय पर इतनी कृपा क्यों कि उन्हें अतिथि-सेवा करने का सुअवसर न दिया जाय।

"योंही!"

मैंने सोचा ज़रूर वह टेढ़ा आदमी होगा, नहीं रिश्ता तो कोई दूर का न था। पिता जी तो एक बार अपने बड़े मामा की चाची के दामाद के पास जा कर एक सप्ताह रह चुके थे। तो क्या कारण है कि मैं अपनी चाची के भाई की सुसराल न रह सकूँ। रिश्ता कुछ वैसा दूर का नहीं। मैं सोचने लगा:

चाची और माँ में अन्तर ही क्या है?

चाची के भाई, याने कि मेरी माँ के भाई!

मेरी माँ के भाई याने कि मामा!

मामा के सुसराल जा ठहरना तो पिता जी के विचारानुसार मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार था। आखिर पिता जी ने स्वयं ही मेरी जिज्ञासा को शान्त किया, "वह घमंडी आदमी है और उसे अपने बड़प्पन का मान है। समझे! किसी होटल में ठहरना।"

तब (हालांकि मैं स्वयं होटल में ठहरना चाहता था) मुझे ख्याल आया कि क्यों न मनोविज्ञान सम्बन्धी अपने सिद्धान्तों को इस घमंडी आदमी पर आज़माऊँ?

मैंने कहा, "आप किसी बात की चिन्ता न करें पिता जी। उसके घमंड और बड़प्पन दोनों को देख लूँगा। साइकोलोजी ने बड़े बड़े मस्त हाथी बाँध दिये! यह किस खेत की मूली है।"

पिता जी ने सुख की साँस ली। वे अपने कर्त्तव्य से मुक्त हो गये। "तो तुम्हारी मर्ज़ी!" उन्होंने कहा, फिर कुछ रुक कर बोले, "कुछ ज्यादा पैसे ले लेना, यदि होटल में ठहरना पड़े तो काम चल जाय!"

"आप चिन्ता न करें पिता जी! जब तक डेल कार्नेगी सलामत है, तब तक तो होटल जाने की नौबत नहीं आती!"

"डेल कार्नेगी कौन है?" पिता जी ने पूछा।

"वह आज के युग का मसीहा है। मेरा गुरु है। उस ने एक बड़ी प्रसिद्ध किताब लिखी है, How To Win Friends And Influence People, जिस में उसने पत्थर से भी तेल निकालना सिखाया है।" यह कह कर मैं अपने ट्रंक में से वह किताब उठा लाया और उसे पिता जी के हाथ में दे दिया।

मैं तैयार हो कर प्लेटफ़ार्म पर पहुँचा। कहीं तिल धरने की जगह न थी तो भी मुझे इस बात का पूरा विश्वास था कि यदि किसी डिब्बे में घुस गया तो खड़े होने की जगह मिल ही जायगी, खड़े होने की जगह

मिली कि बैठने की जगह बनाना बायें हाथ का खेल था। बैठे तो सोना कौन मुश्किल है......

एक के पगड़ी बाँधने के ढंग की तारीफ़, दूसरे के गाँव के मामले में रुचि दिखाना और अच्छा सा सुझाव देना।

तीसरे के घर की उलझनों का हल बताना।

चौथे की राजनैतिक समस्याओं का समाधान करना।

पाँचवें के हाथ की रेखाएँ देख कुछ भविश्यवाणी करना...... फिर क्या है, सब समझने लग जाते कि कोई बेचारा मुसीबत का मारा गुणी विद्वान भटक रहा है।

मेरा बिस्तर फैल जाता है। गाड़ी में लेटे लेटे एक बार साइकालोजी को और फिर डेल कार्नेगी को दुआएँ देते हुए सो जाता हूँ......

ठीक इसी प्रकार शिमले पहुँचा। शिमले मैं कई बार आ चुका हूँ, इसलिये मुझे अपनी चाची के भाई की सुसराल पहुँचने में दिक़्क़त न हुई। समर हिल की पहाड़ी पर उनकी कोठी थी, कोठी बहुत बड़ी और सुन्दर थी।

दरवाज़ा खटखटाया, कोई उत्तर न मिला।

फिर खटखटाया, उत्तर अब की बार भी नदारद। परेशान हो कर इधर उधर देखा कि अंग्रेज़ी में लिखे बैल (Bell) शब्द पर नज़र गई। बटन दबाया।

किसी के सीढ़ियाँ उतरने की आवाज़ सुनाई दी। आशा बंधी।

नौकर बड़बड़ाता हुआ सीढ़ियाँ उतर रहा था। उसके चेहरे पर मेरे आगमन के कारण आने वाला खीझ का भाव भी स्पष्ट था।

मैंने उसके आते ही मनोविज्ञान के हथियार को आज़माने की ठानी और मुस्कराते हुए बोला, "मैं तो समझा था, भाई सो रहे हो। मालूम होता है सुबह उठ कर तुम्हें काम में लग जाना पड़ता है। लगता है तुम्हें बहुत काम करना पड़ता है।"

अपने प्रति मेरी सहानुभाति देख वह फुर्ती से बोला, "आपको किससे मिलना है?"

"मिस्टर बँसल हैं?"

"जी हाँ।"

"उनसे कहो गुप्ता आया है।"

लपक कर वह ऊपर गया और थोड़ी ही देर में वापस आ कर बोला, साहब आपका पूरा नाम पूछते हैं।"

"पूरा नाम? शायद उन्हें मेरा पोस्ट कार्ड मिला नहीं–खैर काग़ज़—" कहते हुए जेब टटोली और पतलून की जेब में से एक काग़ज़ का पुर्ज़ा निकाल लिख दिया—'हरबंस गुप्ता, राजेन्द्र अग्रवाल का सम्बन्धी।' मेरी चाची अग्रवाल थीं और उन्हीं के भाई का नाम राजेन्द्र अग्रवाल था।

एक अधेड़ उमर के व्यक्ति हाथ में अखबार थामे धीरे धीरे सीढ़ियों पर पाँव पटकते चले आ रहे थे, अपने अतिथि के स्वागत करने की उन्हें तनिक भी चिंता न थी।

मुझे यह अच्छा न लगा, परन्तु झट अपने को समझा, चेहरे पर मुस्कराहट लाकर आगे बढ़ अधेड़ उमर के व्यक्ति के घुटनों को छू कर कहा, "पाँव पड़ूँ चाचा।"

"ओह तुम आ गये!" मानो कहना चाहते हों, "मुसीबत गले पड़ ही गई।"

"पिता जी आपको बहुत याद कर रहे थे।" मैंने छूटते ही कहा।

"कौन? देवी दयाल? हाँ, बेचारे बड़े अच्छे आदमी हैं और समझदार भी बहुत हैं।"

मैंने मुस्कराते हुए चारों ओर देखा और कुली से सामान उतरवाने लगा और बोला, "आपकी कोठी खूब जगह है। स्टेशन से दूर अवश्य है, परन्तु ऐसी सुरम्य जगह के लिये इतनी दूर आना भी अखरता नहीं।"

यह कहते हुए मैंने गैलरी में अपना सूटकेस और बिस्तर रखवा दिया।

चाचा 'हूँ' की आवाज़ कर के, सिगार जलाते हुए गैलरी की बाँयीं ओर ड्राइंग रूम में चले गये। वहाँ किवाड़ों और खिड़कियों पर हिरमजी रंग के पर्दे लटक रहे थे और ज़मीन पर उसी रंग का कालीन फैला था। कालीन पर काऊच और आराम कुर्सियाँ पड़ी थीं। दायीं ओर के कोने में रेडियो रखा थी। इस विचार ने काफ़ी तसल्ली दी कि इन लोगों में संगीत की रूचि है।

नये चाचा सिगार के धुएँ को अधखुली आँखों से इस प्रकार देख रहे थे मानो किसी गहरी सोच में हों।

अवश्य मेरे यहाँ ठहरने की समस्या का ही समाधान कर रहे होंगे। एकाएक यह संशय भी हुआ कि कहीं मेरे टालने की ही कोई योजना न बना रहे हों?

उनकी इस योजना बनाने वाली विचार धारा में बाधा डालने के लिये मैं बोला, "वैसे तो राजेन्द्र जी मेरे मामा के समान हैं, परन्तु मुझ से तो उनका भाइयों से भी अधिक प्रेम है।"

नये चाचा कुछ बोले नहीं, केवल मुस्करा दिये। मुझे ऐसा लगा मानो उनकी मुस्कान ने शब्द पा लिये हों और कह रही हो—"तुम सम्बन्ध निकट बनाने की कला से खूब वाकिफ़ हो।"

चाचा की अधखुली आँखें अब भी सिगार के धुएँ पर गड़ी थीं।

मैं फिर बोला, "हमारी शाँति मामी का स्वभाव भी बहुत अच्छा है। कई औरतों की आदत होती है कि वे दूसरे व्यक्ति से अपने पति की आत्मीयता देख कर जल भुन जाती हैं, परन्तु शाँति मामी तो चाय पिलाए बिना उठने ही नहीं देतीं। उन्हें बी० ए० तक पढ़ा कर आपने बहुत अच्छा किया, ऊँची शिक्षा से दृष्टिकोण विस्तृत हो जाता है। आपका क्या विचार है?"

"ठीक है......ठीक है।" चाचा मुस्करा दिये। उनकी मुस्कान में सहृदयता थी।

नौकर आया। बोला, "हजूर सामान कहाँ रखा जाएगा?" सामान उठाने के लिये काफ़ी उत्सुक नज़र आ रहा था।

मुझे विश्वास हो गया, हो न हो अब होटल जाने की नौबत न आएगी।

सिगार दाँतों में दबा कर चाचा बोल रहे थे, "गेस्ट रूम में क्या कुछ पड़ा है?"

नौकर ने आश्चर्य के साथ मेरी ओर देखा, मानो तोल रहा हो कि क्या मैं गेस्ट रूम के ही योग्य था। कुछ सोच कर बोला, "तीन खाली बड़ी अलमारियाँ, कोठी का टूटा फ़र्नीचर, गेहूं की बोरियाँ और......।"

"साहब का सामान वहाँ पहुँचा दो, और देखो टूटा फ़र्नीचर बाहर रख दो।" थोड़ी देर रुक कर चाचा बोले, "शीला बीबी को कहो, इनके लिये चाय बना लायें।"

किसी भी शरीफ़ आदमी को भगाने के लिये इतना कुछ काफ़ी था। परन्तु मैं टलने वाला न था! यदि चाचा ने शीला बीबी का नाम न लिया होता तो सम्भवतः मैं एक आध बार यहाँ से भागने की सोचता। परन्तु अब तो शीला बीबी का नाम मछली के काँटे सा मन में अटक गया।

"तुम यहाँ बैठो, मुझे तैयार हो दफ़्तर जाना है।" चाचा इतना कह चले गये।

चाय और शीला बीबी दोनों की प्रतीक्षा होने लगी। कल्पना उड़ चली और सोचने लगा—शीला चाचा की लड़की है। युवा तो होगी ही। कला में रुचि हो तो कोई अचम्भा नहीं, यह तो आज की युवा लड़कियों के लिए आवश्यक-अलंकार है।

ग्रामोफ़ोन के पास पड़े रेकार्डों में सहगल, जूथिका राय, पंकज आदि

के पुराने रेकार्ड देख कर अनुमान लगाया, संगीत का टेस्ट बड़े ऊँचे किस्म का नज़र आता है।

इतने में खट-खट करती चप्पल की आवाज़ सुनाई दी। मैं सोफ़े पर आकर बैठ गया। टाँगें सम्हालते हुए पतलून की क्रीज़ ठीक की। कालर सँवारते हुए ऐसे बैठा मानो तस्वीर खिंचवाने जा रहा हूँ।

शीला के ड्राइंग रूम में आते ही दोनों हाथ जोड़ नमस्कार किया। उत्तर तो मिला, परन्तु माथे पर कई कमानें खिंच गईं। इतना बदसूरत तो मैं हूँ नहीं कि मुझे देख कर लोगों को नाक भौं सिकोड़नी पड़े। ख़ैर! यही सोच तसल्ली दी कि माथे पर जन्म ही से कमानें खिंची होंगी। असल में यदि आप को देख मैं अपनी आँखें बंद भी कर लेता तो अस्वाभाविक न होता। क्योंकि आपका रंग सफ़ेद होते हुए भी शक्ल कुछ ऐसी थी कि मुझे क्षण भर पहले की अपनी कल्पना पर हँसी आ गई। भद्दा और मोटा शरीर, फूला हुआ गोल चेहरा, पकौड़े की सी नाक, बड़ी-बड़ी भूरी आँखें और उस पर घुँघराले बाल—सब मिल कर कुछ ऐसा प्रभाव डालतीं कि यदि उसकी ओर देख आँखें बंद नहीं कीं—तो समझिये कि यह डेल कार्नेगी ही का प्रताप था।

शीला के हाथ से प्याला इतनी सावधानी से लिया कि कहीं उस का हाथ मेरे हाथ से छू न जाय।

प्याले की ओर देख धन्यवाद दिया।

परन्तु मेरे धन्यवाद की प्रतीक्षा किये बिना शीला वापस जाने की तैयारी कर चुकी थी।

मैं खीझ उठा। जी चाहता था, प्याला उठा कर फ़र्श पर दे मारूँ। नहीं, इस समय सिर्फ़ मन की बात न मानी जा सकती थी, क्योंकि पेट भी तो मन के साथ जुड़ा हुआ है, सो उसने अपना सन्देश भेजा और मैं चुस्की ले कर चाय पीने लगा। चीनी नाम मात्र भी न थी, सम्भवतः इस घर में आने वाले अतिथि चीनी साथ लाते हैं।

जिस गेस्ट रूम में मेरा सामान रखा था, वहाँ पहुँचा। एक ओर गेहूँ की बोरियाँ छत तक लगी थीं। पास ही मेरा सामान पड़ा था। मन बड़ा खिन्न हुआ। होटल जाने का निश्चय करने ही वाला था कि मेरा योगी मन बोल उठा—मुझे इस कमरे से क्या लेना है, मैं तो मनोविज्ञान के सिद्धांतों का प्रयोग करने को यहाँ रुका हूँ, नहीं क्या मैं होटल नहीं जा सकता? डेल कार्नेगी की पुस्तक निकाल कर पढ़ने लगा। पढ़ते-पढ़ते मन शाँत हो गया और मैंने वहीं रुकने का निश्चय कर लिया।

साँझ को चाय की मेज़ पर शीला और चाचा से भेंट हो गई। चाचा को नमस्कार किया। उत्तर किसी ने नहीं दिया। तीन प्याले बनाए गये। चीनी रुचि के अनुसार डाली जाती है, इसलिये चीनी उनमें नहीं डाली गई।

चाय का प्याला आगे आया।

शीला ने चीनी का बर्तन चाचा के आगे बढ़ाया।

चाचा ने दो चम्मच चीनी प्याले में डाल ली।

शीला ने अपने प्याले में भी डेढ़ चम्मच चीनी डाली।

चीनी वाला बर्तन जहाँ से उठाया गया था, वहीं रख दिया गया, उसे मेरी ओर नहीं बढ़ाया गया।

मेरी नज़रें चीनी पर इतनी ज़ोर से गड़ी हुई थीं कि नज़रें चीनी के सम्पर्क में आने के कारण ज़रूर मीठी हो गई होंगी, परन्तु चाय का प्याला फीका ही रहा।

फीकी चाय पीने के अफ़सोस में कुछ बात ही न सूझ रही थी। शीला और चाचा मौन धारण किये थे, और मेज़ पर ऐसी चुप्पी ठीक नहीं समझी जाती।

एकाएक मुझे बात सूझी और मैं अनायास हँस उठा, "आपको किसने बताया कि मैं बिना चीनी के चाय पीता हूँ?" मैं बोला, "सुबह भी बिना चीनी के चाय पीते समय मैं इसी बात पर हैरान हो रहा था।"

बाप बेटी एक दूसरे की ओर ऐसे देखने लगे मानो कोई बात बिगड़ गई हो।

"चाय में फ़्लेवर (Flavour) भी खूब है। असल में चाय के फ़्लेवर का मज़ा लेना हो तो बिना चीनी के ही चाय पीनी चाहिए—पत्ती कौन सी है?" फ़ीकी चाय का मज़ा लेने का पूरा यत्न करके बोला।

"ग्रीन लेबल!" शीला धीमे स्वर में बोली। आवाज़ पतली और तीखी थी।

"ग्रीन लेबल भी क्या चाय है?" मैंने कहा, "क्यों, आपका क्या विचार है?" फीकी चाय का कड़ुआ घूँट भरते हुए मुँह पर मन के भावों को प्रकट होने से भरसक रोकते हुए मैं बोला।

"ठीक है! ठीक है।" चाचा स्वाभाविक ढंग से बोले।

मनोविज्ञान के ठीक प्रभाव के कारण बड़ा सन्तोष हुआ। परन्तु साथ में यह भी ध्यान आया कि अब तो यहाँ एक सप्ताह बिना चीनी के ही चाय पीनी पड़ेगी।

मौका पाते ही मेज़ पोश पर कढ़े फूल की ओर देख बड़े प्रशंसा भरे स्वर में मैं ने कहा, "बहुत सुन्दर है! आप ही ने बनाया है शायद?"

"जी हाँ।" अपनी तारीफ़ सुन लाख यत्न करने पर भी शीला के ओंठों पर मुस्कान खिल उठी और उसने झेंप कर सिर झुका लिया।

अब मालूम हुआ कि शीला के माथे की त्योरियाँ जन्मगत न हो कर जन्म के पश्चात प्रयत्न-गत थीं। क्योंकि अब तक, जब भी शीला मेरी ओर देखती, त्योरियाँ अपने आप माथे पर आ जमतीं, परन्तु इस बार नहीं आईं।

चाय के बाद की गपशप के लिये हम ड्राइंग में जा बैठे। वहाँ बैठ कर मैंने अपनी शाँति मामी (चाची के भाई राजेन्द्र अग्रवाल की पत्नी जिसे मैं मामी कह कर पुकारने लगा था) की बातें छेड़ दीं, जिससे शीला को

महसूस हो कि मैं उनका अपना ही आदमी हूँ। अपनी बहन की तारीफ़ सुनना शीला को भला लगा। जब मैं शाँति मामी की किसी अच्छी आदत की बात कहता, तो चाचा बीच में कह उठते "यह तो दोनों बहनों की एक सी आदत है। इनकी माँ की भी यही आदत थी।" मैं चाचा जी की बात मान जाता और मुस्करा कर शीला की ओर देखता और वह लजा जाती।

शीला और चाचा ने शाँति मामी की बातों में रुचि दिखाई तो मैंने दूसरी स्त्रियों में जो गुण देखे थे, वे सब शाँति मामी के स्वभाव में नगीनों से जड़ दिये, यहाँ तक कि चाचा के चेहरे की बर्फ़ भी पिघलती दिखाई देने लगी।

तब विषय को बदल कर मैं बोला, "आपके रिकार्डों की कलैक्शन बहुत बढ़िया है। देखा जाए तो जो मज़ा पुराने संगीत में था, वह आज कल के टिप-टिप में कहाँ।"

"जी......क्या कहा ......संगीत......संगीत में तो मुझे कोई विशेष रुचि नहीं। कलैक्शन तो शाँति दीदी की है।" शीला सहमे शब्दों में बोली।

मुझे धक्का सा लगा क्योंकि तीर चूक गया। परन्तु शीला ने ठीक समय पर बता दिया, नहीं तो मैं अपने समूचे संगीत के ज्ञान को एक छोटी स्पीच के रूप में उगलने जा रहा था।

कमरे में एक लम्बी खामोशी छा गई, सोचने पर भी मुझे कोई ऐसी बात न सूझी जिस से मैं उस खामोशी को तोड़ सकता। सोचा, क्यों न अपने गुरु डेल कार्नेगी की शरण में जाऊँ और उस के दृष्टांतों से लाभ उठाऊँ।

खुद बोलने की जगह दूसरों को बात करने के लिये प्रोत्साहन देना चाहिए। डेल कार्नेगी का एक दूसरा नियम दिमाग़ में गूँजने लगा और मैं कह उठा "आप किस क्लास में पढ़ रही हैं?"

"जी—मैं इण्टरमिडियेट में हूँ!" वह फिर चुप।

"कौन से कालिज में?"

"क्राईस्ट चर्च कालिज में!"

बड़ी मुसीबत थी, उसके मुँह से तो इने गिने शब्द निकलते मानो बोलने में भी उसके दाम लगते हों।

मैं सोचकर फिर बोला, "बड़ा अच्छा कालिज है आपका। शायद वहाँ खाना पकाना भी सिखाते हैं?"

"खाना? नहीं तो!" वह संक्षिप्त में उत्तर दे मेरी ओर ऐसे देखने लगी जैसे वह मेरे किसी भी प्रश्न का उत्तर देने के लिये तैयार है।

प्रश्नों का खज़ाना खत्म होने लगा, परन्तु मैं हार जाने वालों में से नहीं, "घर में तो आपको खाना पकाना अच्छा लगता होगा?" मैंने यह सोच कर प्रश्न किया था कि यदि ललित कलाओं में रुचि नहीं तो अवश्य ही घरेलू कामों में होगी।

"खाना पकाना भी क्या कोई काम है! रसोई में जाकर सब कपड़े ख़राब करो!" तीर अबकी बार भी चूक गया। लेकिन उसके मुँह से कुछ ज्यादा शब्द तो निकले, इस बात का संतोष हुआ।

"देखा जाए तो आपको स्वयं खाना पकाने की ज़रूरत ही क्या है?" मैं बोला, "दस नौकर आपके पास रहते हैं। रसोई घर जाकर कपड़े तो खराब होते ही हैं, बड़ा अमूल्य समय भी नष्ट होता है"—और अपने देश में स्त्रियाँ जिस प्रकार किचन की गुलामी करने पर विवश हैं, उस पर धीमे शब्दों में मैं ने एक छोटा-मोटा भाषण दे डाला।

शीला के ओंठों पर मुस्कान खेलने लगी। अब जाकर उसकी नब्ज़ पकड़ पाया कि उसे नये फ़ैशन के अच्छे अच्छे कपड़े पहनने के सिवा और किसी बात में कोई रुचि नहीं।

मैं कुछ कहने ही वाला था कि चाचा उठ कर बोले, "चलो बेटी

तैयार हो जाओ ! मिस्टर खन्ना को मिल आएँ !" चाचा और शीला तैयार होने को गये और मैं अपने स्टोर रूम में जाकर कुछ किताबें उलट पुलट कर इन्टरव्यू की तैयारी करने लगा।

दूसरे दिन मुझे इन्टरव्यू करना था। तीसरे दिन की बात है। शाम को चाय की मेज़ पर शीला और चाचा से फिर भेंट हुई।

"क्यों भाई ! तुम्हारा इन्टरव्यू कैसा हुआ ?" चाचा ने पूछा।

"अच्छा हो गया।" मैंने जवाब दिया और अपने आपको बिना चीनी की चाय पीने के लिये तैयार करने लगा।

"बोर्ड में कौन-कौन थे"? चाचा बोले।

"डाक्टर श्रीवास्तव, डाक्टर रामजी दास और मिस्टर खन्ना।"

"पी० सी० खन्ना।"

"जी हाँ।"

"हूँ ! मैं यही सोच रहा था। कल शाम पार्टी में वे तुम्हारे उत्तरों की बहुत तारीफ़ कर रहे थे।

"अच्छा जी ?" मैं मुस्करा दिया, क्योंकि बिना चीनी की चाय वाला प्याला सामने आ गया था।

आज शीला ने चीनी का बर्तन मेरे सामने भी बढ़ाया। हाथ बढ़ा कर चीनी लेने वाला ही था कि परसों की बात याद आ गई और बोल उठा "शायद आप भूल गई हैं, मैं चाय बिना चीनी के पीता हूँ।"

"ओह ! मैं तो सचमुच ही भूल गई थी।" सहृदयता पूर्ण उसके ये शब्द मुझे बड़े भले लगे।

हम सब ड्राइंग रूम में आ बैठे।

चाचा को आज किसी आवश्यक काम से बाहर जाना था। वे चले गये। तब शीला मेरे सामने के कौच पर दस बारह फुट दूर बैठी थी।

कुछ समझ में न आ रहा था कि आखिर क्या बात की जाय? अचानक सामने की दीवार पर शीशे में मढ़े हुए कपड़े पर कढ़े Welcome (स्वागतम्) पर नज़र गई। डेल कार्नेगी ने जैसे कुछ इशारा किया और मैं बोल उठा, "यह 'स्वागतम्' आपने खूब बनाया है। भूरे रंग के कपड़े पर ऐसा रंगीन काम कभी मेरे देखने में नहीं आया।"

एकांत में अपनी प्रशंसा सुनकर वह मुस्करा दी और फिर लज्जा से उसका मुख लाल हो गया। दाँतों में दुपट्टे का छोर ले अपनी मुस्कान को दबाने का यत्न करने लगी।

"इस तरह का मैंने बहुत सा काम किया है। दिखाऊँ?" वह बोली।

"क्यों नहीं? क्यों नहीं? ज़रूर दिखाइए।"

शीला ने ढेर सारे कढ़े हुए मेज़ पोश, अँगीठी कवर, चादरें, रूमाल मेरे आगे ला रखे।

पहले तो मैं यह सोच कर घबरा गया कि इन सब को मुझे देखना ही नहीं, इनकी प्रशंसा भी करना है। असल में आधा मनोविज्ञान तो आदमी तभी सीख जाता है, जब बिना कारण उसे किसी की तारीफ़ करनी पड़े। परन्तु मैं?—मैं तो मनोविज्ञान का वेत्ता था। पूरे दो घण्टे उसकी सिलाई, बुनाई, और कढ़ाई को देखा और उसकी तारीफ़ की। फिर उसने कमीज के प्रिन्टों की बात चलाई।

मैंने सोचा वह तो मुझे लड़की ही समझे बैठी है। परन्तु उसके इस प्रश्न का उत्तर तो देना ही था। सो फुर्ती से उसकी प्रिंटेड कमीज़ की ओर देख कर बोल उठा, "मेरे ख्याल में बड़े बड़े फूलों के प्रिंट अच्छे रहते हैं......आपका क्या विचार है?"

झेंपते हुए सिर झुका कर शीला बोली, "मुझे भी बड़े बड़े फूलों वाले प्रिंट भले लगते हैं। कल ही एक कमीज़ सिलवा कर लाई हूँ, दिखाऊँ?"

हाँ! हाँ! ज़रूर दिखाइये। अब तो मैं ऐसे शिकंजे में फँस गया था

कि और कोई उत्तर ही न बन पाया।

शीला ने कमीज़ को अपने शरीर पर फैलाया। ठोढ़ी से कमीज़ का गला पकड़ा और हाथों में अस्तीनें पकड़, बाहें फैला कर सामने खड़ी हो गई।

मैं कभी उसकी सुन्दर कमीज़ और कभी उसकी अपनी अपरूपता को देखता और प्रशंसा किये जाता कि कमीज़ का वह प्रिंट उसके शरीर पर बड़ा फबता है। खुशी के कारण उसकी आँखों में एक अजीब सी चमक आ गई थी। चेहरे की भावना ऐसे थी जैसे पथरीली धरती पर हरी घास उग आई हो।

उसी समय चाचा वापस आए। ड्राइंग रूम की ओर देख मुस्कराये और गैलरी से ही बोले, "बहुत थक गया हूँ। मैं तो कपड़े बदल कर लेट जाऊँगा। सो मैं ऊपर चला।"

मैं झेंप गया और शीला लजा गई। "डेल कार्नेगी मनोविज्ञान का सम्राट है", मैंने मन ही मन कहा, "उसके सिद्धान्तों पर चलने से यदि लोहा अपने आप गर्म हो उठे और पत्थर पिघल जायँ तो आश्चर्य नहीं।

शिमले में आए हुए चौथा दिन था।

सुबह उठ कर बाहर आया तो देखा शीला धूप में अपने बालों को सुखा रही है। यह सोच कर कि इस अवस्था में शायद उसे मेरा अचानक उसके पास आ जाना भला न लगे, मैं खाँस कर, गला साफ करने का बहाना बना कर वापस जाने को मुड़ा ही था कि शीला ने मुझे पास आने के लिये बुला लिया।

"इस कमीज़ का प्रिंट कैसा है?" वह बोली।

"मार्विलेस! क्या कहने इसके! गहरे लाल फूल के पास यह हरी हरी पत्तियाँ तो कमाल कर रही हैं।" मैं ने शब्दों के अनुसार अपने स्वर को मीठा बना कर कहा।

पास ही के पौधे पर एकाकी गुलाब को देख कर न जाने मुझे क्या सूझी कि मैं बोला, "बिखरे काले बालों पर सुर्ख लाल गुलाब कैसा रहेगा।"

"जैसा काली कलूटी मेम को गहरे लाल रंग का फ्राक।"

हम दोनों हँस दिये।

मेरे हाथ ने बिना दिमाग़ से पूछे वह गुलाब शीला के बालों में लगा दिया।

शीला मुस्करा दी।

सामने से मुस्कराते हुए चाचा दफ़्तर जाते दिखाई दिये।

उन्हें देख मैं नीचे मुँह कर, एक अपराधी की तरह खड़ा हो गया और ऐसा लगा जैसे ज़मीन में गड़ा जा रहा हूँ। शीला ने फूल झटके से ज़मीन पर फेंक दिया। चेहरा उसका भी उसी गुलाब सा लाल हो आया।

पाँचवे दिन शाम की बात है, चाय के समय खाने वाली मेज़ को देख आश्चर्य चकित रह गया। जहाँ पहले सिर्फ़ चाय और वह भी फीकी मिलती थी, वहाँ आज तीन मिठाइयाँ और दो नमकीन चीज़ें प्लेट में थीं। सोचा ज़रूर ही किसी बड़े मेहमान की चाय होगी। मैं आश्चर्य से मिठाईयों की ओर देख ही रहा था कि चाचा आये। हाथों को फैला कर मुस्कराते हुए बोले, "बैठो बेटा बैठो।" मैं बैठ गया। फिर चाचा सानुरोध बोले, "खाओ बेटा खाओ! लज्जा काहे की!—अपना ही घर समझो।" चाचा के इस अपनेपन का रहस्य समझ में न आ रहा था।

चाय पीने के बाद चाचा उठे। मैं उन्हें अपने कल जाने की सूचना देने के लिये उनके पीछे जाते जाते बोला, "मैं आपसे एक बात......"

"मैं सब समझ गया हूँ।" उन्होंने मेरी ओर मुड़ कर कहा "अब तुम्हें कुछ भी कहने की जरूरत नहीं है। तुम्हारे पिता जी को कल ही मैंने तार दे दिया है, वे आते ही होंगे। मैं सब ठीक कर दूँगा। तुम्हारे

पिता जी को भी मैं स्वयं ही समझा लूँगा।" यह कह चाचा निश्चिंत हो ऊपर जाने के लिये सीढ़ियाँ चढ़ने लगे।

मेरी बुद्धि 'ठन' सी रह गई। अवाक खड़ा उन्हें ऊपर जाते देखता रहा, एक शब्द भी न कह सका।

तभी ज़ोर से काल बैल बज उठी। पिता जी के साथ सामान उठाये कुली दिखाई दिया। घबराते हुए किवाड़ खोला। पाँव छू, सहमे स्वर में बोला, "पिता जी आप—"

"मुझे सब पता चल गया है बेटा! आखिर इस में घबराने और शर्माने की बात ही क्या है? मैं बूढ़ा ज़रूर हो गया हूँ पर नये ज़माने की रोशनी से खूब वाकिफ़ हूँ।"

चाचा को जब पिता जी के आने की सूचना मिली तो वे बड़े उत्साह के साथ तेज़ तेज़ सीढ़ियाँ उतर नीचे आये। पिता जी और चाचा एक दूसरे के गले मिले। नौकर को पिता जी का सामान अपने कमरे में रखने और शीला बेटी को बड़े ही तपाक भरे स्वर में राय साहब (मेरे पिता) के लिये चाय लाने का आदेश देकर, चाचा पिता जी को लिये ड्राइंग रूम में आये। कुछ देर इधर उधर की बातें करने के बाद बोले, "यों तो पत्र ही में सब कुछ लिख दिया था......तो बात पक्की हुई न?"

"पक्की ही समझिए। जैसा आपने लिखा है कि लड़की और लड़का दोनों राज़ी हैं, और उस पर यदि आप जैसा घर और सुशील लड़की मिले तो और चाहिए ही क्या?" पिता जी मेरी ओर मुस्करा कर देख रहे थे, मानो अपनी रज़ामंदी देकर मुझ पर एहसान कर रहे हों।

तब चाचा मेरे पास आये। एक सौ एक रुपये के नोट मेरे हाथों से छुआ कर उन्होंने पिता जी के हाथों में दे दिये, तभी शीला बेटी चाय ले आई।

महत्वाकाँक्षी

मैं एक सपना देख रहा हूँ !

हम एक नाटक खेलने जा रहे हैं। नाटक की रिहर्सल एक छोटे से ग्रीनरूम में हो रही है। उसे खेलने का प्रबंध मेकअप रूम के साथ, बड़े हाल में किया है !

इस नाटक की टिकटों के दाम बहुत ज्यादा रखे हैं। निर्देशक का विचार है कि इस प्रकार केवल सभ्य लोग ही टिकटें ख़रीद सकेंगे ! समझ में नहीं आता कि क्या धनवान ही इस नाटक की कला के पारखी हैं ! निर्देशक यही सोचता है ! मैं इस बात पर उससे बहस करना चाहता हूँ। फिर विचार आता है कि शायद यह सब सपना है !

इस नाटक में मेरा भी एक छोटा सा पार्ट है, पर मैं इसे बहुत महत्व दे रहा हूँ। शायद मेरे बिना यह नाटक खेला ही न जा सके।

निर्देशक मेरे पार्ट को जाने क्यों महत्व नहीं दे रहा ! फिर भी इस बात से मुझे तसल्ली है कि उसने मुझे थोड़ा सा अभिनय करने का अवसर

तो दिया; वह मुझे परामर्श देता है कि मैं दूसरों का अभिनय देखकर सीखने का प्रयास करूँ। पर मैं तो खुद को अपने में ही पूर्ण समझता हूँ। और असली बात तो यह है कि दूसरों को बड़े बड़े पार्ट करते देख कर न जाने क्यों मुझे बुरा भी लगता है—और फिर कँपकँपी के साथ ध्यान आता है, शायद यह सब सपना है!

जिस हाल में हमें परसों अपना नाटक खेलना है, वहाँ आज भी बहुत भीड़ जमा हो रही है! हाल से आने वाली आवाज़ें मेरे कानों से टकरा रही हैं! मुझे बेचैनी सी हो रही है। मैं उन आवाज़ों से कुछ मतलब निकालना चाहता हूँ—जानना चाहता हूँ कि हाल में क्या हो रहा है।

निर्देशक और अन्य कलाकार अपने अपने काम में निरत हैं। बाहर की आवाज़ें उनकी तल्लीनता भंग नहीं कर पातीं। मैं ग्रीनरूम ही में बराबर चक्कर काट रहा हूँ। कुछ समझ में नहीं आता कि क्या करूँ—पर कुछ करना अवश्य चाहता हूँ, बस, इतना जानता हूँ।

नाटक की रिहर्सल अब भी हो रही है! मुझे अभिनेताओं के अभिनय और डायरेक्टर के निर्देशन में बेशुमार त्रुटियाँ नज़र आ रही हैं, पर जाने कौन सा संकोच मेरे ओंठ सी देता है!

हाल का शोर बढ़ता जा रहा है, मेरा अनुमान है कि किसी विषय पर तर्क-वितर्क होने जा रहा है। मैं उसे सुनना चाहता हूँ, परन्तु नहीं, मुझे तो नाटक में भाग लेना है। मेरी बेचैनी और भी बढ़ती जा रही है।

सड़क की तरफ़ खुलने वाली खिड़की में मुझे एक बड़ा गोल छेद नज़र आता है—शायद वहाँ से लकड़ी की गाँठ निकाल दी गयी है। खिड़की बन्द है।

मैं उस छेद में से झाँकने लगता हूँ!

मेकअप रूम स्टेज के पीछे है। इसकी खिड़की सड़क की ओर खुलती है! इस सड़क से ही होकर सब लोग हाल में जा रहे हैं। सड़क की भीड़ और हाल के शोर के बीच में मेरा दम घुट रहा है।

चार कब के बज चुके हैं। चाय का वक़्त गुज़र चुका है—मैं निर्देशक से चाय माँगता हूँ। मुझे चाय जल्दी मिलने का वादा मिलता है—पर मुझे तो चाय चाहिये—वादे नहीं! ये वादे तो दो घंटों से मिल रहे हैं। मैं जानता हूँ शायद चाय कभी न मिलेगी!

झल्ला कर मैं खिड़की के उस बड़े छेद से आँख लगा बाहर देखने लगता हूँ। सड़क पर बेपनाह भीड़ है—चलने वालों के कन्धे इस खिड़की को छूते जा रहे हैं!

हँसी-मज़ाक करते हुए कुछ नवयुवक सामने से निकल गये हैं। अब एक प्रौढ़ा अपने अधेड़ पति के साथ चली जा रही है। उसका कन्धा खिड़की के किवाड़ को छीलता हुआ सा निकल गया! निमिष भर को मैंने चाहा कि अपने कोट में लगा पिन निकाल उसके कन्धे में चुभो दूँ। मैं सोचता ही रह गया और वह आगे निकल गई! शायद मैं अब उसे सामने पड़ जाने पर पहचान भी न सकूँ। मैंने तो सिर्फ़ उसके बढ़िया ढंग से सजे बाल और सुराही की सी लम्बी गर्दन ही देखी है। न उसने मुझे देखा है और न मैं ही उसे देख पाया हूँ। फिर भी, न जाने क्यों, मैं उस को अपनी उपस्थिति का आभास देना चाहता हूँ! उसे न जानते हुए भी बताना चाहता हूँ कि केवल वे लोग ही महत्व के नहीं जो आज की सभा में भाग ले रहें हैं। मैं भी उनसे कम महत्व का व्यक्ति नहीं। आज नहीं तो कल इसी स्टेज पर अभिनय करने जा रहा हूँ!

पाँच छः युवतियाँ छेद के निकट से चली जा रही हैं। उनके चेहरों की ताज़गी, स्वच्छन्द चाल, लापरवाह निगाहें—किसी कालेज की छात्राएँ लगती हैं। अब वे छेद से कुछ दूरी पर हैं! मैं उनकी भाव-भंगियों को पूरी तरह

देख सकता हूँ। कुछ मनचले युवक उनके पीछे जा रहे हैं। वे फबतियाँ और आवाज़े कस रहे हैं। मैं एक ठंडी उसाँस भर कर ही रह जाता हूँ। काश मैं भी उनकी टोली में होता! चाहता हूँ छेद में से ज़ोर की सीटी बजाऊँ या वे पास आ जायें तो इस सुराख से दो उँगलियाँ निकाल उनके गुच्छेदार बाल पकड़ लूँ। वे चिल्ला उठें। उन्हें पता चले कि इस छोटी सी कोठरी में भी कोई कलाकार है जिसे नियति ने महानता के लिये चुन लिया है। परन्तु वह तन्वाँगियाँ भी आगे चली गईं बिना मेरी उपस्थिति का अनुभव किये! मुझे यह अच्छा नहीं लगा। मैंने गुस्से में पाँव पटक कर छेद से अपनी आँख हटा ली—सोचा आख़िर क्या कारण है कि जो कुछ भी करना चाहता हूँ, नहीं कर पाता! क्यों नहीं छेद से बाहर सिर निकाल सकता? कीलों से मढ़ी खिड़की को क्यों नहीं तोड़ देता!

मैं किवाड़ पर मुक्कों और लातों की बारिश कर देता हूँ पर उसे तोड़ नहीं पाता तो झल्ला उठता हूँ।

ठीक उसी समय मेरी बुलाहट होती है। निर्देशक का आदेश मिलता है कि मैं जाकर अपना वह नगण्य, महत्वहीन पार्ट करूँ।

"मैं नहीं जाऊँगा। मैं वह ज़रा सा पार्ट नहीं करूँगा।" मैं चिल्ला उठता हूँ "मैं नायक की भूमिका में काम करूँगा।" वे मुझे ढकेलते हैं। मैं चिल्लाता हूँ कि मेरी आँख खुल जाती है। मैं उठ बैठता हूँ। बिस्तर पर बैठकर आँखें मलते हुए सोचता हूँ कि यही तो मेरे जैसे असफल कलाकार का जीवन है! तभी मन के अन्दर छिपा वह पुराना कपटी मेरा अहम ठहाका मार उठता है। अरे पागल यह तो सपना था!

पर क्या यह सचमुच सपना था?

दिलीप

दिलीप के गुण और दोष मुझ से छिपे नहीं। परन्तु मेरा एक नियम है कि मनुष्य के गुणों को ही महत्व देना चाहिये, दोषों का बखान ओछे-पन की निशानी है।

दिलीप मेरे बचपन का साथी है। स्कूल में उस की प्रखर बुद्धि ने हेड मास्टर को चकित कर दिया था। क्लास रूम के बाहर वह बड़े-बड़े शैतानों के कान काटता और खेल के मैदान में उसकी दक्षता दर्शकों को चकित कर देती। वार्षिकोत्सव पर होने वाले नाटक में दिलीप का अभिनय देख कर और उसके सुरीले गले के दो गाने सुनकर लोग झूम उठते।

लड़कियों की आँखें प्रायः उस के घुँघराले बालों में उलझ जातीं। बालों से उतर कर दृष्टि उसकी आँखों पर जाती तो पल भर को वे आँखों की मस्ती में बह जातीं।—दिलीप की मूँछों की लकीर में बल आता और ओंठों से मुस्कान फैल कर उसके सारे मुख को चमका देती। लड़कियाँ लज्जा वश मुख मोड़ कर चल देतीं, परन्तु उसके मन में कुछ अजीब

गुदगुदी होने लगती। लड़कियाँ मुड़ कर देखतीं—दिलीप मुस्करा रहा होता मानो वह पहले से ही जानता हो कि लड़कियाँ अवश्य मुड़कर देखेंगी। आँखें चार होते ही वे बिजली की गति से मुँह मोड़ लेतीं।

दिलीप को अपनी भूरी आँखों और घुँघराले बालों पर मान था। सँवारते समय जब बाल उलझ जाते तो वह प्रायः कहा करता, "लड़कियों की नज़रें बालों में उलझ गयी लगती हैं।"

उसे अपने साँवले रंग और साँचे में ढले गठीले शरीर पर नाज़ था। कपड़े सिलाते समय वह इस बात का ख़ास ख्याल रखता कि उसके पौरुष भरे शरीर की गठन उभर आये और लगातार अभ्यास से उसने अपनी चाल में एक अजीब सी मस्ती पैदा कर ली थी।

होस्टल में एक ही कमरे में और कालेज में सदा साथ रहने के कारण मैं दिलीप के बहुत निकट आ गया था। इस कारण छुट्टियों में घर आने पर भी बात बात पर दिलीप याद आता। दिन में न जाने कितनी बार दिलीप की बातें अपनी छोटी बहिन पम्मी और पिता जी को सुनाता। बातें मजे की होतीं, सो पम्मी और पिता जी रुचि से सुनते।

एक दिन पिता जी बोले: "क्यों बेटा, छुट्टियों में दिलीप को अपने साथ क्यों नहीं लाते!"

"हाँ दादा! दिलीप भैया को जरूर बुलाओ!" पम्मी भी उत्सुकता से कह उठी।

मैं बोला, "मैंने तो उससे कई बार कहा है, काफ़ी अनुरोध भी किया है, वादे भी वह करता है, पर छुट्टियाँ होते ही उसे घर जाने की इतनी जल्दी होती है कि वह सब वादे भूल जाता है। अब की बार कम्पीटीशन के बाद अवश्य आएगा।

असल बात यह थी कि वह घर में बहुत सी लड़कियों को जानता था; उनसे मिलने की उत्सुकता उसके सब वादे-वचनों को भुला देती।

लड़कियों से प्रेम करने के भी उसके अपने सिद्धान्त थे। "लड़की को पाने" से उसका तात्पर्य था कि उस लड़की से जब चाहे बात कर सके, और लड़की उसके इशारों पर नाचे। वह लड़कियों से मीठी-मीठी बातें कर अपनी धाक जमाना ठीक समझता—बस और कुछ नहीं। लड़कियाँ सहज ही उसकी ओर खिंची आतीं, इसलिए वह उन्हें खिलवाड़ समझता। किसी लड़की से मिलने के बाद, उसके चले जाने पर उसके बारे में सोचना दिलीप के उसूलों के विरुद्ध था। वह अक्सर कहा भी करता: "लड़कियों के लिए तो अपना यह उसूल चलता है: आँखों से दूर तो दिल से दूर!"

दिलीप की यह आदत मुझे बुरी लगती और मैंने उसे कई बार समझाया भी। किसी युवक का युवतियों को आकर्षित करना और स्वयं आकर्षित होना तो स्वाभाविक है। पर अनेक युवतियों को अपनी ओर आकर्षित कर, उनके प्रेम को चरम विन्दु पर पहुँचा, बीच मँझदार उन्हें छोड़ कर स्वयं किनारे हो जाना मुझे पसंद नहीं। लेकिन अब तो यह उसके बस की बात न रही थी; यह तो नशे की तरह उसकी आदत बन चुकी थी।

और उधर बेचारी लड़कियाँ बुरी तरह दिलीप के प्रेम में फँस जाती हैं—दिलीप को अपने साथ घनिष्ठता से बातें करते देख कर आत्मीयता समझने लगतीं, हृदय में मीठी-मीठी टीस उठने लगती। चेहरे का रंग बदल जाता; आँखों में चमक आने लगती और वे समझने लगतीं कि उन्हें दिलीप से और दिलीप को उनसे अपार प्रेम है।

सो लड़कियाँ उससे प्रेम करने को मजबूर थीं और वह उनसे खेलने को लाचार और मैं—मेरी दशा उस विवश सुधारक की सी थी जो कुछ कर न सके, बस इस या उस बात की नैतिकता पर धुआँधार व्याख्यान झाड़ कर सन्तोष करले कि उसने अपना कर्तव्य पूरा कर दिया है।

दिलीप ने आई० ए० एस० के कम्पीटीशन के बाद हमारे घर आने

को पत्र लिखा। मैं भी इंजीनियरिंग कालेज की अन्तिम परीक्षा देकर घर आया था।

दिलीप को लेने पिता जी और पम्मी के साथ मैं स्टेशन गया। जब पहली बार पम्मी ने दिलीप को देखा तो उसकी आँखें चमक उठीं जैसे उसने अपनी कल्पना को साकार देख लिया हो। पिता जी और दिलीप एक दूसरे से इस प्रकार बातें कर रहे थे जैसे कोई निकट का सम्बन्धी बहुत दिनों बाद अपने घर वापस आया हो। दिलीप बात-बात पर अपने स्वाभाविक ढँग से मुस्कराता, हँसता और मज़ाक करता। पम्मी भी बातें करने को उत्सुक दिखाई देती। उसमें एक ऐसी स्फूर्ति आ गई थी जो मैंने पहले कभी न देखी थी।

पिता जी वैसे तो अपने काम में व्यस्त रहते, पर अवसर मिलते ही हमारी महफ़िल में आ जुटते। उनके मज़ाक सदा तैयार रहते—और जब दिलीप उनके मज़ाकों का उत्तर देने लगा, उन्हें मज़ाक करना और भी अच्छा लगने लगा। दिलीप के साथ पिता जी भारतीय दर्शन और आधुनिकतम राजनीतिक समस्याओं पर बहस करते। पम्मी मंत्र-मुग्ध सी दिलीप की ओर देखती। मन ही मन वह उसके गम्भीर अध्ययन के लिये उस से श्रद्धा करने लगी।

सुबह ताश चलती और शाम को हम घूमने जाते। ताश में रमी हम तीनों को आती। रमी में पम्मी सदा हार जाती, दिलीप सदा जीतता और मैं—कभी हार जाता, कभी जीत जाता! पम्मी हार कर झल्ला उठती और दिलीप जीतकर मुस्करा देता और दो चार फबतियाँ कस देता। दया करने का अभिनय करते हुए वह बड़े अन्दाज़ से कहता, "माफ़ी माँग लो तो एक सौ प्वाइंट (Points) माफ़ कर देंगे।" पम्मी माफ़ी माँग लेती और हम सब हँसने लगते।

प्रायः घूमते समय मैं बीच में रहता, पम्मी और दिलीप मेरी दायीं और

बायीं तरफ। आज दिलीप को यहाँ आये पाँचवाँ दिन हो गया है—और क्या देखता हूँ कि मेरा इन के बीच में रहना कुछ मतलब ही नहीं रखता। बातों से ज्यादा वे इशारे करते और यह समझते कि मैं उनके इशारे नहीं समझता। मुझे हँसी भी आती और दुख भी होता।

उसी दिन रात को खाना खाते समय क्या देखता हूँ कि पम्मी दिलीप की ओर देखे चली जा रही है और दही चादर पर गिरता जा रहा है। मैंने जब पम्मी को सचेत किया तो उसका चेहरा लाल हो गया।

दूसरे दिन दोपहर को खाने की मेज़ पर बैठते समय पम्मी ने कुछ ऐसी तरकीब की कि उसकी कुर्सी दिलीप के साथ हो। पिता जी उन दोनों को साथ साथ बैठा देख कर आई० ए० एस० दामाद की कल्पना करने लगे। पम्मी सुन्दर स्वस्थ और सुडौल युवक को अपने भावी पति के रूप में देख कर आनन्द महसूस कर रही थी। और मैं अपने एक घनिष्ठतम मित्र को खो बैठने के भय से सहम गया था।

दिलीप और पिता जी आपस में बहस कर रहे थे। पम्मी दिलीप के खाने वाली प्लेट की ओर देखती और आवश्यकतानुसार तरकारी पहले ही सामने ला रखती। दिलीप पम्मी की ओर देखकर मुस्करा देता और उसकी मुस्कान के जादू से पम्मी की आँखें मस्ती से विभोर हो जातीं। मैं शान्त भाव से सब कुछ देख रहा था और मेरे भीतर एक आग सी सुलग उठी थी।

पिता जी ने एक आध बार कहा भी, "बड़े गुम सुम बैठे हो, क्या बात है?"

मैं मुस्कराने का यत्न करके बोला, "कुछ नहीं, कुछ नहीं!"

इससे दिलीप मुझी को अपनी फबतियों का निशाना बनाने लगा। उसके यह मज़ाक मुझे ज़हर से भी कड़ुए लगे, परन्तु कुछ उत्तर न देकर चुप हो रहा।

अवसर पाकर मैंने दिलीप से बात करने की ठानी । पर उसने तो मेरी बात को मज़ाक में ही उड़ा दिया । मेरी समझ में न आ रहा था कि आखिर किस प्रकार दिलीप की इस बुरी आदत के बारे में पिता जी से बात करूँ । हिम्मत बाँध कर उन से भी बात की, पर उन्हें तो आई० ए० एस० दामाद की धुन थी । दिलीप के खुले मिज़ाज लेकिन नेक तबीयत की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा, "जिस का खानदान अच्छा हो, उससे किसी घटिया कमीनी हरकत की आशा नहीं की जा सकती ।"—उन्होंने मुझे वहमी ठहराया और समझाया कि मुझे अपनी बहन के भविष्य की सोच करनी चाहिए और दिलीप को यथा सभंव अपने चंगुल में फँसाना चाहिए ।

पम्मी से बात करनी फज़ूल थी क्योंकि उसपर पहले रोमान्स की मस्ती छाई हुई थी । दिलीप पन्द्रह दिनों के लिये हमारे पास आया था और उसे जल्दी जाने को भी न कहा जा सकता था । कुछ समझ में न आ रहा था कि आखिर क्या करूँ । और नाटक का अन्तिम दृश्य देखने की मुझ में शक्ति न थी ।

अखिर मैंने निश्चय कर लिया कि मैं ही वहाँ से भाग निकलूँ । शायद दिलीप भी चलने को कहे और बात ही बन जाय । मैंने एक स्थान पर नौकरी के लिये प्रार्थना-पत्र भेजा था, वहाँ से इन्टरव्यू के लिये जाली तार मँगाया । मुझे जाने से कोई रोक न सका । मेरे चलने पर दिलीप ने भी जाने को कहा, पर पम्मी और पिता जी के अनुरोध से दिलीप वहीं रहा—एक सप्ताह और !

× × ×

अगली छुट्टियों में जब घर आया तो पम्मी ने शिकायत भरी दृष्टि से मुझे देखा क्योंकि वापस जाने पर दिलीप का एक भी पत्र न आया था । पिता जी ने भी अनमने हो कर दिलीप के बारे में पूछा, क्योंकि पिता जी

ने भी आई० ए० एस० में चुने जाने के बाद दिलीप को सगाई के लिये पत्र लिखा था। उस पत्र का भी कोई उत्तर नहीं आया। उन दोनों को मुझ से शिकायत थी कि मैंने उनकी कोई सहायता न की। लेकिन मुझे उनके प्रति जो शिकवा था, उसकी बात कैसे करता—उनके कारण अपने एक अति प्रिय मित्र से मेरा नाता टूट गया था।

कुल का दीपक

सात बच्चों का बाप बन जाने पर भी हीरालाल के हृदय में अभी तक एक लड़के की लालसा बनी हुई थी। वह प्रायः कहा करता, "मेरे वंश का नाम बनाये रखने के लिये, एक लड़का दे दो भगवान! और कुछ नहीं चाहिये।"

उसके सात बच्चों में एक भी लड़का न था, सातों लड़कियाँ थीं। पर लड़कियों से क्या होता है?......वंश तो लड़के ही चलाया करते हैं। यदि उसका कोई भी लड़का न हुआ तो उसके मरने के बाद उसके वंश का नामो-निशान मिट जायगा। उसे स्वर्ग तक कौन पहुँचायेगा?

राखी के दिन अपनी लड़कियों को रोता देख हीरालाल भगवान से प्रार्थना करता, "सात बहनों को एक भाई दे दो भगवान! और कुछ नहीं चाहिये।"

घर में क़दम रखते ही उसे एक लड़के का अभाव खलता। वह सोचता, यदि आज उसका एक लड़का होता तो उछलता-कूदता आ कर

उसकी टाँगों से चिमट जाता—तब वह उसे गोद में उठा लेता—उसके गालों को चूमता।

यही सोचते हुए हीरालाल कमरे में जा कर कोने में पड़ी तीन टाँगों वाली कुर्सी के पास (जिसकी चौथी टाँग की जगह ईंटें रखी हुई थीं) पहुँचा। उसे ऐसा लगा जैसे उसकी टाँगों से कोई लिपट गया हो। हीरालाल की सब से छोटी लड़की मुन्नी अपने पापा का प्यार लेने के लिये उसके पैरों के पास आ गई थी। मुन्नी के भोले मुख की सरल मुसकान ने हीरालाल की थकान दूर न की। उसने झुँझला कर मुन्नी को टाँगों से छुड़ा फ़र्श पर बैठा दिया और स्वंय कुर्सी पर अपना थका शरीर ला पटका।

हीरालाल के सामने एक बहुत बड़ा पलंग रखा था; यह पलंग उसे अपनी शादी में मिला था; ईंटों से ऊँचा करके पलंग के नीचे एक चारपाई बिछाई हुई थी। कमरे की बाक़ी जगह में मुश्किल से तीन चारपाइयाँ आती थीं। सरदी के दिनों में दो-दो तीन-तीन लड़कियाँ एक साथ सोतीं, तब कहीं सोने का प्रबन्ध हो पाता।

हीरालाल अपनी कोहनी को कुर्सी की बाँह पर टिका कर हथेली में चेहरे को सम्हालते हुए खिड़की से बाहर शून्य की ओर देखने लगा। उसके सामने बैठी शीला उसकी सब से छोटी लड़की मुन्नी को सुला रही थी। मधु और रमा इतनी गम्भीरता से बुनाई कर रही थीं जैसे घर भर की सिलाई-बुनाई इन्हें ही करनी हो। मुन्नी से बड़ी बिल्ली और कम्मो गुड़िया का खेल रचा रही थीं।

"माँ! कम्मो ने मेरी गुड़िया छीन ली।"

"शान्ति मुझे गुड़िया के पटोले❀ नहीं देती।"

❀ पटोले = कपड़े।

"माँ, मधु ने मेरे स्वेटर की सिलाई निकाल दी।"

इस कमरे का वातावरण इन आवाज़ों से भली भाँति परिचित था। कभी कभी तो एक दूसरे से लड़ने, शिकायत करने और बाल नोचने तक का भी दृश्य वहाँ प्रस्तुत हो जाता। और ठीक भी तो है, जहाँ इतने बच्चों के खेलने, माँ के काम करने और बाप के सोचने-विचारने के लिये एक ही कमरा होगा, वहाँ यह लड़ना-झगड़ना तो होता ही रहेगा।

मगर हीरालाल को इस सबकी चिन्ता न होती। वह कुर्सी पर बैठ कर शून्य में देखते हुए सुनहले स्वप्न रचा करता—जब उसका अपना लड़का होगा तो वह उसका घोड़ा बन जायगा; लड़का इन लड़कियों के साथ आखिर क्या खेलेगा? मैं स्वयं उसे कन्धे पर बैठा कर सैर कराऊँगा, कम्पनी बाग़ ले जाऊँगा। खिलौनों से इस कमरे को भर दूँगा—यह सब सोचते हुए हीरालाल अपने चारों ओर के शोर को भूल जाता और उसकी आँखों में, ओंठों पर, सारे के सारे चेहरे पर एक जगमगाती मुस्कान फैल जाती।

हीरालाल ने सावित्री को 'सित्तो' के स्थान पर 'बच्चों की माँ' कह कर पुकारना शुरू कर दिया था। शादी के बाद जब सावित्री हीरालाल के घर आई थी तो सब ने उसकी माँ से कहा था, "चाँद का टुकड़ा पा गई हो, माँ जी।" परन्तु अब सात बच्चों की माँ चाँद का दाग़ भी न रह गई थी।

रात को जब बच्चे सो जाते तो प्रायः पति-पत्नि घर की विभिन्न समस्याओं पर विचार करते।

"सित्तो, एक बात कहूँ?" हीरारात ने सावित्री की चारपाई की तरफ़ करवट लेते हुए कहा। सावित्री शरमाई। कनखियों से देखते हुए बोली, "लाज नहीं आती ऐसे बुलाते। सात बच्चों के बाप बन गये पर......"

"पर एक लड़के का बाप तो नहीं बन पाया," बीच में ही रोक कर हीरालाल बोला।

"लड़के की लालसा आपको ....?"

"बस बस, आगे कुछ मत कहना! यह हालत इस घर की न होती, यदि एक लड़का हो जाता। आज मेरे बराबर कमा कर लाता, घर के रंग दूसरे होते।"

"बीस तारीख के बाद जिस तरह घर का खर्च चलता है, मैं ही जानती हूँ," सावित्री भीगे स्वर में बोली, "शान्ति और शीला का स्कूल जाना बन्द हो गया, अगले साल से रमा की फ़ीस भी लगेगी; लड़कियों के सिर पर दुपट्टे तार-तार हो गये हैं; मेरी शलवारें पैवंद लगाने योग्य भी नहीं रहीं; आपका गर्म कोट कोहनी से इतना घिस गया है कि अब रफ़ू भी नहीं हो सकता। आखिर एक सौ पैंतीस में क्या-क्या ख़र्च चलाऊँ? आप जानें और आप की बेटियाँ, मुझ से यह सब कुछ नहीं चलता।" घर की इस दुर्दशा का वर्णन करते समय सावित्री की आँखों से आँसू बाँध तोड़ अविरल धारा से बहने लगे।

"इस में रोने की क्या बात है। मैं भी तो यही कहता हूँ कि बस एक लड़का होता, तो आज मेरे बराबर कमा कर लाता।" हीरालाल ने सावित्री की चारपाई पर आ कर, एक हाथ से उसके बालों को सहलाते हुए, दूसरे से उसके पिचके गालों से आँसू पोंछे। सावित्री का सिर उसने अपनी छाती से लगा लिया। सावित्री बच्चों की तरह फूट-फूट कर रोने लगी।

"अब भी क्या बिगड़ा है। बुढ़ापे में तो लड़का ही सेवा करता है। लड़कियाँ तो अपने-अपने घर जा सम्हालती हैं। बस एक......" हीरालाल के चेहरे पर दीनता और याचना की अमिट छाप थी।

"लड़के की लालसा मारे जाती है। यह नहीं सोचते कि सात लड़कियों की शादी कैसे होगी। आज कल लड़के बी० ए० से कम पढ़ी-लिखी लड़की

की ओर देखते भी नहीं ।......और इधर मैट्रिक की फ़ीस देनी मुश्किल हो गई है ।" हीरालाल की तरफ पीठ कर सावित्री लेट गई और रोने लगी । उसकी सिसकियाँ बँध गईं । लड़कियों के विवाह की बात सोच कर सावित्री का दुःख आँसुओं का रूप धर कर बहने लगा । आज-कल वह एक पाई भी नहीं बचा पाती और वह जानती थी कि सरकारी नौकरी में बड़ी रकम एक साथ हाथ लगना असम्भव है ।

पर हीरालाल ने वहीं चारपाई पर लेट कर अपनी रोती पत्नी को छाती से लगा लिया और प्यार से उसके आँसू सुखा दिये ।

हीरालाल और सावित्री रामपुर वाली देवी की मन्नत मानने गये थे । सुना जाता है उस देवी ने लोगों को सदा पुत्र दिये हैं ।

माँ की अनुपस्थिति में बच्चों की देख-रेख शीला और शान्ति के जिम्मे पड़ी । शीला अपनी छोटी बहनों के अनुरोध पर उन्हें एक कहानी सुनाने लगी, "एक था लड़का । उसका नाम था राम । एक थी लड़की । उसका नाम था मालती । दोनों बहन-भाई थे ।

"क्यों—हमारे भाई नहीं आयेगा?" सहसा बिल्लो अपनी प्यारी तोतली भाषा में बोली ।

"हम भी भाई लेंगी," कम्मो कह उठी ।

"हमारा भाई—" कुछ सोच कर शीला बोली, "रमेश है न?—तुम उसको राखी नहीं बाँधतीं?"

"लमेश हमाला भाई नहीं । लमेश चाची को माँ, औल माँ को चाची कहता है ।" बिल्लो ने मानो बड़ी सूझ की बात कही हो ।

"अच्छा, शीला दीदी, भाई कहाँ से आते हैं? सब के भाई आते हैं, हमारे क्यों नहीं आते?" कम्मो बोली और भोले मुख से शीला की ओर देख उत्तर की प्रतीक्षा करने लगी ।

शीला न जानती कि क्या उत्तर दे। वह चुप रही। उसी समय हीरालाल और सावित्री रामपुर से वापस आये थे। किवाड़ की ओट में अपने बच्चों की भोली बातें सुन रहे थे। हीरालाल ने आकर कम्मो को गोद में उठा लिया और उसके गालों पर हल्की-सी चपत लगा कर कहा, "जल्दी ही तुम्हारा भाई भी आयगा!" हीरालाल को पक्का विश्वास था कि रामपुर की देवी अवश्य पुत्र देंगी।

बिल्लो और कम्मो माँ को आते पाकर भागीं और सावित्री की टाँगों से लिपट गईं। मुन्नी सो रही थी, नहीं वह भी अपनी भाषा में कुछ न कुछ अवश्य कहती। अपने बच्चों को इस प्रकार उमड़ते देख सावित्री के मुख पर मुस्कान की लहर उठी; बड़ी बेटियों को घर सम्हाले देख उसकी खुशी का पारावार न रहा। परन्तु उसी क्षण यह विचार भी आया कि अब बेटियाँ विवाह-योग्य भी हो गई हैं। राज का भी कोई प्रबन्ध करना चाहिये। मुस्कान की लहर सोच की गहराई में लीन हो गई।

सावित्री अस्पताल में थी। इधर हीरालाल के वेतन का अधिक भाग अस्पताल में खर्च हो जाता, उधर घर की भूख थी कि पाटे न पटती थी। एक दिन हीरालाल ने शान्ति को अलग ले जा कर कहा—"बेटी, वेतन मेरा अस्पताल में खर्च हो गया है। यदि तुम किसी तरह एक हफ़्ते का राशन कम कर दो, तीन ही हफ़्ते के राशन से काम चला लो तो बड़ा अच्छा हो।"

"लेकिन, बाबू जी—" शान्ति कुछ कहना चाहती थी परन्तु हीरालाल ने बीच में ही रोक कर कहा, "शान्ति! मैं अगले महीने की आधी तनख़ा लेकर खर्च कर चुका हूँ। अब और कहाँ से लाऊँ मैं? सावित्री के लिए दूध और फल भी ज़रूर आना चाहिये, बहुत कमज़ोर है,—और लाखों

इन्जेक्शन। तुम तो सयानी हो। बताओ क्या करूँ? कहाँ से लाऊँ?"

शान्ति की आँखें आँसुओं से डबडबा आईं। उसने अपने मैले फटे दुपट्टे के आँचल से आँखें पोंछीं और चली गई।

हीरालाल को घर की आर्थिक समस्या, लड़कियों के मुरझाये चेहरे चिन्तित न करते थे। मुन्नी को काली खाँसी हो गई थी और बिल्लो को दस्त लग गये थे। हीरालाल को मुन्नी और बिल्लो की चिन्ता न थी, उसे तो बस एक ही धुन थी कि उसकी पत्नी प्रसव की उलझन से पार हो और इस बार उसे एक लड़का दे।

सावित्री प्रसव पीड़ा से कराह रही थी। हीरालाल अस्पताल में ही कमरे के बाहर, बैंच पर बैठा प्रतीक्षा कर रहा था। सावित्री के चिल्लाने की आवाज़ जिस समय उस के कानों में पड़ी, वह उठ खड़ा हुआ। बेचैनी से बराँडे के चक्कर लगाने लगा—कुछ ऐसा लगता, जैसे प्रत्येक बार बराँडे को नापने का निश्चय कर वह आगे बढ़ता हो, परन्तु बराँडे के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते गिनती भूल जाता हो—और फिर शुरू से गिनने लगता हो। कभी चिन्ता और कभी मुस्कान की रेखा उस के चेहरे पर छाया-प्रकाश के जाल बुन रही थी।

शान्ति और शीला के जन्म के समय बच्चे का लड़का या लड़की होना उस के लिये महत्व न रखता था। उसे अपनी सित्तो की रक्षा का सब से अधिक ध्यान था। पर तब भी एक बार उस ने यह अवश्य सोचा था कि यदि लड़का होता तो अच्छा ही था।

दो बेटियों के बाद बेटे की इच्छा उसके मन में प्रबल हो उठी थी, इसलिये जब तीसरी बार रमा आई तो जैसे हीरालाल पर मुसीबत का पहाड़ टूट पड़ा था।

मधु को सावित्री और हीरालाल ने कई मन्नतों और पूजापाठ कर के

पाया था। वह त्रिखल❀ से बच गये थे। हीरालाल को ऐसा लगा, मानो दुबारा जन्म पाया हो।

कम्मो, बिल्लो और मुन्नी के जन्म के समय तो उसे सदा ही यह आशा रही कि अब की बार तो अवश्य लड़का ही होगा। लड़की की सूचना उस के लिये सदा चिन्ता बन कर आई थी। वह शोक-सागर में डूब जाता पर फिर भी सावित्री के स्वस्थ हो जाने पर, उस का हौसला बँध जाता।

मगर आज?—आज तो चिन्ता की कोई बात ही नहीं। देवी का वर झूठा नहीं जा सकता! लड़का ही होगा!

हीरालाल दरवाज़े पर नज़र गड़ाये खड़ा था। दरवाज़ा खुला। वह लपक कर उस ओर बढ़ा। नर्स आई।

"मुबारक़ हो बाबू जी!"

"लड़का हुआ, नर्स! मैं तो जानता ही था, नर्स, लड़का होगा। ओह!—" इतना कह कर हीरालाल मुँह बाये नर्स की ओर ताकता रह गया। कुछ क्षण बाद बोला, वंश का नाम रौशन करने वाला आ गया। मेरे घर का चिराग़, मेरे कुल का दीपक आ गया, नर्स! क्या मैं अपने लड़के को देख सकता हूँ।"

"—पर बीबी जी की हालत बहुत अच्छी नहीं!"

"लड़के की हालत तो अच्छी है?" घबरा कर हीरालाल ने पूछा।

"वह तो ठीक है।"

हीरालाल ने सुख की साँस ली। वह कमरे में गया। सावित्री अब भी पीड़ा से कराह रही थी। बच्चा नर्स की गोद में रो रहा था। हीरालाल

❀ त्रिखल—पंजाब में तीन लड़कियों के बाद होने वाले लड़के को त्रिखल कहते हैं। प्रचलित है कि इससे लड़के के बाप को मृत्यु-भय होता है।

को अपने लड़के के रोने की आवाज़ ही सुनाई दी—सावित्री की कराह नहीं। उसने अपने लड़के की ओर देखा। वह चाहता था कि उसे अपने हाथों में ले कर चूम ले, पर नर्स उसे लेकर नहलाने चली गई।

तब एकाएक हीरालाल की नज़र सावित्री पर गई। उसके चेहरे पर मुर्दनी-सी छाई हुई थी। सावित्री की यह हालत देख हीरालाल दाँतों-तले ओंठ चबाने लगा।

डाक्टर सावित्री का निरीक्षण कर रही थी।

"सावित्री की हालत कैसी है, डाक्टर? बच जायेगी न?" हीरालाल ने दीनता से डाक्टर की ओर देखा।

"कोशिश तो यही कर रहे हैं, आप बाहर जा कर बैठिये।" गम्भीर स्वर में कह कर डाक्टर चली गई।

हीरालाल चला आया। जिस रास्ते को सीधा समझ कर चला था, उसी में ठोकर खा गिर गया। लड़का बिना माँ के—यह विचार बिजली की गति से उस के दिमाग़ से हो कर निकल गया। लड़के के जन्म पर जो शानदार महल उसने बनाये थे, सब ढहते दिखाई दिये। उसे लगा जैसे उस के जीवन में एक तूफ़ान आना चाहता हो, जो उस का रहा-सहा घर भी बहा ले जाये।

हीरालाल अपनी आँखों में भर आये आँसुओं को छिपाने के लिये दोनों हाथों से चेहरा ढक कर बैठ गया।

थोड़ी ही देर बाद नर्स आई; एक पर्ची उसके हाथ दे कर बोली, "ये टीके ले आइये जल्दी। बीबी की हालत खराब है। तत्काल टीके लगने चाहिएँ!"

नहीं तो......

हीरालाल की आँखों के आगे अँधेरा छा गया। उसकी जेब में सिर्फ चार आने थे! उस का ख्याल था कि नर्स माँगेगी तो अभी उसे पान-पत्ते

के लिये दे देगा। फिर कहीं से उधार लेने की चेष्टा करेगा। लेकिन टीके—उनके लिये पैसे कहाँ से आयेंगे? और उसके कानों में आवाज़ें गूँजने लगीं—उधार नहीं......उधार नहीं! उधार नहीं, तो टीके नहीं! टीके नहीं तो सावित्री नहीं! सावित्री नहीं, तो सात बहनों का वह इतने कष्ट से पाया हुआ भाई नहीं—उसके कुल का दीपक नहीं—उसके वंश का नाम-लेवा नहीं......

और वह सहसा दोनों हाथों से सिर थाम कर धम से वहीं बैठ गया।

पिल्ला

नरेन्द्र की तरक़्क़ी और तबदीली एक साथ हुई। गर्व-स्फीत स्वर में, लेकिन बेपरवाही की अदा के साथ मुस्कराते हुए, वह अपने मित्रों को यह समाचार देता। पर उसकी पत्नी लता को जो सुख तरक़्क़ी की ख़बर से हुआ था, उसे तबादले की चिन्ता ने दबा-सा दिया। लता को महिलाओं का क्लब और दिल्ली की इतनी अच्छी कम्पनी छोड़ कर अकेले रहना ज़रा भी पसन्द न था। यों तो दिल्ली से कहीं भी जाना किसी को भी अच्छा नहीं लगता, पर हिसार तो बिल्कुल उजाड़-मरु में है।

हिसार की सरकारी कोठी बहुत बड़ी थी। एक अलग कमरे में लता ने बेबी के सारे खिलौने सजा दिये। बेबी दिल्ली में अपनी आया 'मंगलो' से खूब हिल-मिल गयी थी, पर उस आया ने हिसार आने से इनकार कर दिया। उसका पति दिल्ली में जो काम करता था। हिसार में कोई नयी आया न मिली थी, रसोइया भी नया-नया था। लता को बेबी की देख-भाल के साथ-साथ किचन में रसोइये का भी हाथ बटाना पड़ता था। यह थोड़ा

सा काम भी उसे बहुत लगता। वह बार-बार खीझ उठती। अपनी झल्लाहट को नौकरों पर उतारती। बच्चों की देख-रेख कोई आसान काम नहीं, विशेष कर जब उन की उमर तीन चार साल के बीच हो। दिल्ली में वे रहते तो, शायद लता बेबी को किसी अच्छे-से कान्वेंट में दाखिल करा देती, पर इतने छोटे बच्चे को होस्टल में भी तो नहीं भेजा जा सकता। लता ने बच्चों के मनोविज्ञान पर बहुत-सी किताबें पढ़ी थीं और वह उन के अनुसार ही बेबी की देखभाल करना चाहती थी। ऐसा न कर पाने से कई बार खींझ उठती।

महीनों बीत गये पर कोई आया न मिली। शरणार्थी स्त्रियाँ आती थीं, पर आया का काम जिस ट्रेनिंग की अपेक्षा रखता है, वह उनके यहाँ न थी। बेचारी मुसीबत की मारी अनचाहे भी यह काम सम्हाल लेतीं। लता सुख की साँस लेती और अफ़सरों की बीबियों से मेल-जोल बढ़ाने के सपने लेने लगती कि अचानक देखती—नयी आया को तो नेपकिन बाँधने की भी तमीज़ नहीं और खाना खिलाना भी नहीं आता। वह सिखाने की कोशिश करती, पर सफाई और सलीका एक दिन में तो आता नहीं। झुँझला कर लता उन्हें जबाब दे देती अथवा वे ही छोड़ कर चली जातीं।

आया का काम तो बस आया ही कर सकती है। लता दिल्ली में 'मंगलो' के बीसियों दोष निकालती थी, पर इन शरणार्थी स्त्रियों के काम को देख कर उसे रह रह कर उसकी याद आती।

नौकर थे, पर वे तो शरणार्थी स्त्रियों से भी गये-बीते थे। बेबी का सारा काम वह स्वयं करती; सुबह बेबी को उठा कर हाथ-मुँह धुलाती और दूध पिलाती। खिलौनों वाले कमरे में ले जाकर स्वयं उस के साथ खेलती। जब बेबी थक कर सो जाती तभी लता नहा-धो कर तैयार हो पाती। बेबी के कामों में रहने के कारण लता अपने पति का पूरा ध्यान भी न रख पाती और यह बात उसे सदा खलती।

लता बहुत दिनों तक बेबी के साथ उसके स्तर पर उतर कर खिलौनों से न खेल सकी। अब वह बेबी को खिलौनों वाले कमरे में छोड़कर चुपके से बाहर आ जाती। बेबी को ममी या आया के बिना खिलौने न भाते और वह रोने लगती। शुरू-शुरू में तो लता बेबी के ज़रा-से रोने पर भी विचलित हो जाती, पर अब तो बेबी के घंटों चिंघाड़ने से भी उसके कानों पर जूँ न रेंगती।

बेबी शाम को नौकर के साथ घूमने जाती। नौकर नया था, इसलिए बेबी उस के साथ जाते समय जब तक कोठी से दूर न चली जाती, रोती रहती। क्लर्कों के बच्चे बेबी को सैर पर जाते देखा करते, इधर-उधर से छिप कर झाँकते पर किसी का इतना साहस न होता कि बेबी के पास जाकर बात भी करे। बड़े साहब की बेटी जो ठहरी!

नौकर भी समझदार था। वह उन बच्चों को बेबी के पास फटकने न देता। पर बेबी नौकर की उँगली छोड़ उन बच्चों के साथ जा मिलती; वह उसे पकड़ लाता तो वह रोने लगती। हार कर वह उसे उनके साथ खेलने को छोड़ देता। नौकर बेबी को रुलाना भला न समझता। इस लिये अब बेबी रोज़ बच्चों के साथ खेलने लगी। खेलते समय वे सब एक से बच्चे थे। जिनमें ऊँच-नीच का भाव तनिक भी न था। सब को एक समान मिट्टी में घर बनाना, कपड़े गंदे करना, नाचना-कूदना और कुदकड़े मारना पसन्द था। बेबी अब घर से निकलते ही अपने नौकर से कहती, "हमें नलेश औल लाजू के पास ले चलो।" नौकर भी बेबी को नरेश और राजू के पास छोड़ देता और स्वयं बीड़ी सुलगा सुस्ताने लगता।

कुछ दिनों में बेबी नरेश और राजू को अपने घर बुला कर, अपने खिलौनों के साथ उन से खेलने लगी। पहले दिन जब नरेश आया, तो उसने नेकर और घर की धुली कमीज़ पहन रखी थी। उसने सम्हाल-सम्हाल

कर सहमे कदमों से चमकते फ़र्श पर पाँव रखा कि कहीं फ़र्श गंदा न हो जाय। बेबी के खिलौने देख कर नरेश हैरान ही रह गया। एक अकेले बच्चे के पास इतने खिलौने हो सकते हैं, वह कभी सोच भी न सकता था। खोया-खोया चारों ओर खिलौनों को देख कर बोला, "बेबी?—क्या यह सब—तुम्हारे खिलौने हैं?"

"हाँ" बेबी के मुख पर गर्वमिश्रित मुस्कान फैल गयी।

"तुम अकेली इन सब खिलौनों से खेलती हो?"

"हाँ, हाँ! यह देख मेला घोला!" यह कह बेबी अपने झूलने वाले घोड़े पर बैठ गई और हिला-हिला कर उसे दिखाने लगी। बेबी ने एक-एक कर के सारे खिलौने नरेश को दिखाये, "यह गुलिया, यह छोता सोफ़ा, छोती अलमारी, यह कछुआ, यह बन्दूक, यह ती-सेत।"

नरेश को बेबी के खिलौने अच्छे लगे। वह रोज़ आने लगा। राजू की छोटी बहन वीणा भी बेबी की सहेली बन गई। सुबह दस बजे के बाद ये बच्चे आते और दोपहर भर खेलते। जब बेबी सो जाती तो वे चले जाते। इन बच्चों के आ जाने पर लता को कुछ समय के लिये चैन तो मिलता। लेकिन अब बच्चों को देख प्रायः उसके मन में यह कचोट होती कि बेबी को दिल्ली की-सी कम्पनी यहाँ नहीं मिली।

नरेश सदा घबराहट के साथ ही खिलौनों को छूता, क्योंकि उसे हमेशा यह डर रहता कि कहीं कुछ टूट न जाय। नरेश को उसकी माँ ने खूब समझा कर भेजा था कि उसे न तो बेबी से लड़ना है और न उसके खिलौने तोड़ने हैं। नरेश दो दिन तो अपनी माँ की नेक नसीहत पर चल सका, पर, फिर वह वही पुराना नरेश बन गया। चंचल, उद्दंड, बदतमीज़। सिर्फ़ इतना ध्यान उसे रहा कि वह राज और वीणा को तो पीट देता पर बेबी को कुछ न कहता।

पिल्ला

इतवार को नरेन्द्र घर पर था। वैसे तो नरेन्द्र का ध्यान बेबी की ओर अधिक न जाता। यदि बेबी सामने आ जाती तो उसे प्यार कर लेता, नहीं घर पर भी अपनी फ़ाइलों में मस्त रहता।

वह अपने कमरे में बैठा कुछ फ़ाइलों को उलट-पुलट रहा था कि उसी समय बेबी के कमरे से ज़ोर-ज़ोर से रोने और चिल्लाने की आवाज़ आई। नरेन्द्र को बच्चों के रोने-चिल्लाने से बड़ी नफ़रत थी। उसे बच्चे हँसते-खेलते और मुस्कराते अच्छे लगते। शोर सुन कर वह झल्लाता हुआ बेबी के कमरे में आया। नरेश और राजू कमरे में एक दूसरे से उलझ गये थे। एक दूसरे के बाल नोच कर मुक्के मार रहे थे। वीणा रोने लगी और उसके साथ बेबी भी चिल्लाने लगी। नरेन्द्र अपने ही क्लर्कों के बच्चों के साथ बेबी को खेलते देखकर आग बबूला हो उठा। पर क्रोध में कुछ बोला नहीं। पैर पटकता लता के पास पहुँचा। नरेन्द्र को बहुत कम गुस्सा आता था और जब कभी आता, तो भूँचाल की तरह सारे घर को हिला देता।

"इन बच्चों को किसने यहाँ आने दिया?"

"बच्चे तो रोज़ ही आते हैं," धीमे स्वर में लता ने उत्तर दिया।

"मैं पूछता हूँ, आखिर किस से पूछ कर वे यहाँ आते हैं?" और भी ज़ोरों से चिल्लाते हुए नरेन्द्र बोला।

लता हकलाते हुए बोली, "आख़िर उन्होंने क्या नुक़सान कर दिया? कुछ बताओगे भी या यूँही चिल्लाते जाओगे?"

"इन बच्चों के साथ खेल कर जब तुम्हारी बच्ची की आदतें नीच क्लर्कों के बच्चों-सी हो जायँगी, जब तुम्हें मालूम होगा कि क्या नुक़सान कर दिया।" नरेन्द्र का क्रोध चरम सीमा पर था, "देखो! आज ही इन बच्चों को कह दो कि वे यहाँ न आया करें। मुझे अपनी बच्ची को गंदी आदतें नहीं सिखाना। समझीं?"

"तो फिर बेबी के साथ कौन खेला करेगा?"

"बेबी चाहे जैसे भी खेले, पर कल से इन में से कोई कोठी के अहाते में पैर न रखे!"

"आज तो खेल लेने दो, कल से नहीं आयेंगे।"

"मैं एक पल भी उन्हें नहीं देख सकता!" यह कह कर नरेन्द्र स्वयं बेबी के कमरे की ओर बढ़ा।

"अच्छा, अच्छा, तुम अपने कमरे में जाओ। मैं स्वयं उन्हें भेज देती हूँ।" और लता बेबी के कमरे की ओर बढ़ी।

लता जानती न थी कि वह इन भोले बच्चों को बिना किसी कारण कैसे कोठी से निकाले। पर फिर उसे अपने पति के क्रोध का ध्यान आया और मन ही मन उसने कुछ निश्चय कर लिया।

बेबी के कमरे में बच्चे 'चोर-सिपाही' के खेल में मग्न थे। नरेश चोर बना था और राजू सिपाही। चोर पकड़ा गया और सिपाही उसे मार रहा था। चोर हाथ जोड़ मिन्नतें कर, हँसी को दबा कर रोने का अभिनय कर रहा था। बेबी और वीणा यह खेल देख पेट पकड़ हँसती जा रही थीं।

लता बच्चों के इस भोले खेल पर खूब हँसना चाहती थी, पर उसने इसी बात को बहाना बना लिया, "लड़ क्यों रहे हो?" वह चिल्लाई।

बच्चे सहम कर जहाँ के तहाँ खड़े रह गये।

"राजू? तुम नरेश को क्यों मार रहे थे?" लता ने डाँटा।

नरेश के आत्माभिमान को धक्का-सा लगा और झट बोला, "राजू मुझे कैसे मार सकता है? मैं चोर बना था वह सिपाही। इसलिये मार रहा था। नहीं तो......"

"चुप रहो! ऐसे खेल यहाँ मत खेला करो। यह खेल अपने-अपने

घर जाकर खेलो। ख़बरदार, आगे इस कोठी में जो क़दम भी रखा!" शब्दों में दृढ़ता थी।

बेबी हैरान हो कर अपनी ममी की ओर देख रही थी। जानती न थी कि आज ममी को हो क्या गया है। रोते-रोते अपनी ममी की टाँगों से चिमट गयी, जैसे नरेश और राजू की तरफ़ से माफ़ी माँग रही हो। बेबी डबडबाई आँखों से नरेश, राजू और वीणा को सहमे क़दमों से तेज़-तेज़ बाहर जाते देख रही थी।

बेबी अब बिल्कुल अकेली रह गई। अपने खिलौनों से वह अब न खेलती। बस रोते हुए लता के पीछे पीछे घूमा करती और चिल्लाती, "लाजू......नलेश......हम लाजू के पास जायेंगे। हम नलेश के साथ खेलेंगे।" लता उसे बहुत समझाती कि वह गंदे बच्चे हैं, परन्तु बेबी की समझ में यह बात न आती और वह चिल्लाती "लाजू...... नलेश......"

नरेन्द्र के दफ़्तर से आने पर लता ने बेबी के दिन भर चिल्लाने और रोते रहने का हाल सुनाया। नरेन्द्र ने दूसरे ही दिन दफ़्तर जा कर सब लोगों को एक आया तलाश करने को कह दिया।

एक आया की खोज उनकी सब से बड़ी समस्या थी। नरेन्द्र जब भी अपने मित्रों से मिलता तो यही चर्चा चलती। तरह-तरह की सलाहें अनेक मित्रों ने दीं, पर आया कोई न ढूँढ सका।

शाम को लता अनमनी-सी बैठी थी, क्योंकि रोज़-रोज़ बेबी के रोने और चिल्लाने के कारण वह तंग आ गई थी। बेबी भी कमज़ोर हो गई थी।

उसे नरेन्द्र पर भी गुस्सा आ रहा था कि दफ़्तर से वापिस आने में इतनी देर क्यों लगा देते हैं। जब लता ने मोटर की आवाज़ सुनी तो मन ही मन उसने निश्चय कर लिया कि आज वह ज़रूर कह देगी कि

या तो कोई आया लाओ नहीं तो अपना तबादला करवा लो।

नरेन्द्र ने मुस्कराते हुए बराँडे में कदम रखा ही था कि लता बोली, "मैं अब बहुत तंग......"

"तुम्हारी सब तंगी दूर हो जाएगी" नरेन्द्र ने कहा, "बेबी का दिल भी बहल जायगा और उसकी आदतें भी ख़राब न होंगी।"

"कैसे?" लता ने उत्सुकता के साथ पूछा।

नरेन्द्र ने वापस जाकर मोटर का पिछला दरवाज़ा खोला और उस में से एक कुत्ते का पिल्ला उठा लाया, "यह देखो! अब बेबी इसके साथ खेला करेगी!" पिल्ले को कानों से पकड़ लटकाते हुए कहा, "अच्छी नसल का है, काटेगा नहीं।"

लता ने अपने पति की सूझ पर दाद दी और उसे ऐसा महसूस हुआ, जैसे कोई बड़ी भारी समस्या हल हो गई हो।

कानवैंट

केप्टन नरेन्द्र सिंह चौहान सिर्फ़ एक राजपूत योद्धा ही नहीं, वरन समझदार पति भी थे। युद्ध क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि घर की चारदीवारी में भी उन का सिक्का चलता था। वे एक सिद्धहस्त गृहस्थ थे।

उन की पत्नी पढ़ी-लिखी न थी। क्लबों में आये दिन होने वाली पार्टियों में वह फर्राटे से अंग्रेज़ी न बोल सकती थी। वह दूसरे अफसरों के साथ नाच भी न सकती थी। नाचते हुए बाल रूम के फर्श भी न नाप सकती थी।

उसी बटेलियन के चार दूसरे अफसरों ने अपनी अनपढ़ पत्नियों को छोड़ कर दूसरी शादियाँ की थीं। लड़ाई पर जाने से पहले उन्होंने भी कई बार सोचा था कि वे दूसरी शादी कर लेंगे, परन्तु युद्ध के बाद तो इस का प्रश्न ही न रहा था। उन्हें भली भाँति याद है कि जब उन्हें स्ट्रेचर पर कैंप अस्पताल लाया जा रहा था, तो सब से पहले, अपने पाँव के कट जाने पर जो बात उनके दिमाग़ में आई थी, वह यह थी कि अब उनकी तरफ़

कोई स्त्री आँख उठा कर भी न देखेगी। एक पढ़ी-लिखी पत्नी पाने का उनका स्वप्न भंग हो गया था। और फिर जब अन्य अफसरों ने दूसरी शादी की मुसीबतों का रोना रोया, तो उन्हें तसल्ली हो गई।

उन्होंने निश्चय कर लिया कि अपनी पहली पत्नी जानकी को ही अँग्रेज़ी सिखाने का प्रयत्न करेंगे। इस निश्चय के पीछे उनकी असमर्थता की झलक स्पष्ट थी। सुन-सुना और देखा-देखी जानकी भी अँग्रेज़ी के कुछ शब्द यैस, नो, थैंक्यू आदि का प्रयोग खूब दक्षता से करने लगी थी। परन्तु जब कभी किसी शब्द का ग़लत प्रयोग हो जाता, तो केप्टन चौहान को सब की हँसी का पात्र बनना पड़ता; जानकी पर उन्हें क्रोध आता और वे सोचने लगते कि आखिर उनके भाग्य में अनपढ़ जानकी ही है? तब उन्हें अपने माता-पिता पर क्रोध आता कि उन्होंने उनकी शादी जानकी जैसी अनपढ़ और गँवार स्त्री से क्यों की? भारतीय समाज पर क्रोध आता कि उसमें बाल विवाह की प्रथा क्यों है? उनकी शादी भर्ती होने से पहले हो गई थी। सिर्फ़ शादी ही नहीं, भर्ती होने के पूर्व उनके दो बच्चे भी हो गये थे।

उनके लड़के की उमर एक साल की थी और लड़की को पैदा हुए कुछ ही दिन हुए थे, जब उन्हें लाम पर जाने की आज्ञा मिली।

पहला महायुद्ध समाप्त हुआ तो चौहान को इस बात का गर्व था कि वे इने-गिने भारतीय अफ़सरों में से एक हैं। युद्ध क्षेत्र से घर आते समय उन्हें अपनी पत्नी की अपेक्षा बच्चों से मिलने की उत्सुकता अधिक थी—न जाने क्यों?

अपने बच्चों को देखकर केप्टन चौहान को इस बात का बड़ा अफसोस हुआ कि दूसरे अफसरों के बच्चों की तरह वे स्मार्ट नहीं। उनके बच्चों का खाने-पीने और बोलने का ढँग गँवारू था। मिट्टी से भरे चेहरे, रूखे बाल और ढीले-ढाले कपड़े पहन वे दिन भर गली-कूचों में घूमा करते। केप्टन चौहान कई बार सोचते कि बच्चों की माँ भले ही गाँव की है, पर उनका

बाप, जो सेना का ऊँचा अफसर है, उन्हें कभी गँवारू नहीं बनने देगा। इसलिये केप्टन चौहान ने निश्चय कर लिया कि जैसे भी हो, वे अपने बच्चों को अच्छी से अच्छी शिक्षा देंगे।

केप्टन चौहान ने मेजर बेदी के बच्चे देखे थे; सदा साफ-सुथरी कमीज़ें और नीली नेकरें पहने चुस्ती से खेलते-कूदते, और अँग्रेज़ी में ही बात करते; वे बच्चे अतिथियों का स्वागत, सुबह का अभिवादन, रात्रि का नमस्कार आदि सब कुछ अँग्रेज़ी में करते। मेजर साहब भी अपने बच्चों को फुर्तीली अँग्रेज़ी में बातें करते देख खुशी से फूले न समाते। जो कोई भी उनके घर आता, उसको अपने बच्चों से, अँग्रेज़ी में बात करने को मजबूर कर देते।

केप्टन चौहान को भी अँग्रेज़ी के असली एक्सैंट (Accent) में उन बच्चों से बातें करना बहुत पसन्द था। वे अपने बच्चों को भी इसी प्रकार बातें करते देखना चाहते थे।

कभी-कभी जब केप्टन चौहान, बेदी साहब के घर बैठ कर उनके बच्चों के अँग्रेज़ी एक्सैंट (Accent) की तारीफ़ करते तो बेदी साहब मुस्कराते और कानवैंट स्कूलों की तारीफ़ों के पुल बाँध देते।

बार-बार तारीफ़ सुन कर चौहान ने यह निश्चय कर लिया कि वे भी अपने बच्चों को कानवैंट में ही भेजेंगे। इसी कारण अब वे अपने बच्चों को सब छोटी-मोटी बातें सिखाने लगे, जो बेदी साहब के बच्चे जानते थे। काँटे और छुरियाँ मोल लाये। अपने दस साल के पुराने नौकर को इसलिये निकाल दिया कि उसे अँग्रेज़ी तरीके से खाना खिलाना न आता था। उस की जगह एक नया नौकर रखा गया, जो एक रेस्तोराँ में बैरा रह चुका था। जानकी को इस नये नौकर की चाल-ढाल आवारों की-सी लगी और उसे निकालने के लिये कहा, परन्तु केप्टन चौहान न माने। उन्हें अपने बच्चों को अँग्रेज़ी तरीके सिखाने थे।

चौहान अपने लड़के अशोक से तो अँग्रेज़ी में ही बात चीत करते और अपनी लड़की वीना को उन्होंने नाक, कान, मुँह, दाँत आदि के अँग्रेज़ी शब्द याद करवा दिये थे। इस प्रकार कानवैंट जाने की तैयारी होने लगी।

जानकी को बात-बात पर अपने पति की विलायती साहबी पसन्द न आती। कई बार वह अपने पति के कहने पर अँग्रेज़ी तौर तरीकों का प्रयोग करती भी, परन्तु उन में भी ज़रा सी ग़लती हो जाने पर पति की झिड़कियाँ विष से भी कड़वी लगतीं। वास्तव में जानकी की वर्षों से पकी हुई आदतों का महीनों में बदल जाना आसान न था।

अशोक और वीना को कानवैंट भेजने के लिये वहाँ से आई हुई सूची के अनुसार नीले रंग की नेकरें और स्कर्ट (skirts) तथा सफेद रंग की कमीज़ें बनवाई जाने लगीं। यद्यपि चौहान यह जानते थे कि अब उनकी तनखाह का अधिक भाग बच्चों की पढ़ाई में लग जायेगा, तो भी उन्हें इस बात की पूरी तसल्ली थी कि अब उनके बच्चे गँवारू न रह जायेंगे, अँग्रेज़ी पढ़े-लिखे स्मार्ट बच्चे बनेंगे।

वे बच्चों को स्वयं शिमले छोड़ने गये। शिमले से वापस आते समय वे सोचते आ रहे थे कि अब उनके बच्चों की ज़बान पर, मेजर बेदी के बच्चों की तरह असली एक्सैंट की अँग्रेज़ी नाचेगी।

अशोक और वीना के चले जाने पर जानकी को अपना सूना-सूना घर काटने को दौड़ता। वह सोचती कि आखिर ऐसी भी पढ़ाई क्या हुई कि उसकी अपनी औलाद उससे छिन जाय। जानकी सोचती कि यदि वह स्वयं नहीं पढ़ी, तो इससे क्या? उसने अपने गाँव में ज़मींदार के बच्चों को पढ़ते तो देखा था। पढ़ाई सिर्फ बच्चों को बाहर भेजने से ही थोड़े होती है, ज़मींदार के बच्चों को मास्टर घर आ कर पढ़ा जाते थे। क्यों न वे भी वीना और अशोक के लिये एक अच्छा-सा मास्टर रख

लेते, जो घर आकर ही पढ़ा जाता। बच्चे पढ़ भी जाते, घर भी सूना न होता। परन्तु वह अपने पति को कैसे समझाये, वे तो बात-बात पर उसे डाँट देते।

जानकी को अपने बच्चों की पढ़ाई पर ज़्यादा पैसे खर्च करने का इतना अफ़सोस न था, जितना अपने बच्चों से बिछुड़ने का। अब वह उनके मुँह देखने को तरसती। जैसे-जैसे रोते-धोते छुट्टियों का इन्तज़ार करने लगी।

इतने दिनों के बाद छुट्टियों में अपने बच्चों को देख कर जानकी के हृदय ने ठण्डक-सी महसूस की। जानकी अपने बच्चों को छाती से लगा बार-बार उनका मुँह चूमती थी।

अशोक को अपनी माँ का प्रेम प्रकट करने का यह गँवारू तरीका पसन्द न आया। इसलिये अशोक यत्न करके अपनी माँ से दूर हट कर खड़ा हो गया। वीना अपनी माँ से बहुत देर तम चिपटी रही।

अशोक और वीना अभी ठीक-ठीक अँग्रेज़ी बोलना तो नहीं सीखे थे, पर साफ़-साफ़ कपड़े पहन और चमकती पेटियाँ कसकर स्मार्ट अवश्य लगते।

बच्चों को उनकी सिस्टरस (Sisters) ने कहा था कि घर में भी वे अधिक अँग्रेज़ी बोलें; अशोक अपने पापा के साथ अँग्रेज़ी ही बोलता; वीना अँग्रेज़ी की कुछ छोटी-छोटी रटी हुई कविताएँ सुनाया करती : कभी Twinkle Twinkle Little Star ! और फिर Humpty Dumpty sat on a Wall ! वह इन्हें पाँव आगे-पीछे कर हाथ के इशारों से बड़ी चतुराई से सुनाती। यद्यपि उसकी कविताओं को उसके पापा ही ज्यादा पसन्द करते तो भी उसे अब भी अपनी माँ की गोद बहुत प्यारी थी।

कानवैंट खुलने पर बच्चे वापस चले गये और माँ का हृदय फिर सूना हो गया। जानकी फिर उत्सुकता से अगली छुट्टियों की प्रतीक्षा करने लगी।

केप्टन चौहान ने अशोक और वीना की तस्वीरें कानवैंट की पोशाक

में द खिंचवाईं। उन तस्वीरों को अपने कमरे में फ्रेम करवा के रखा। अँग्रेज़ी पढ़ने में अपनी पत्नी की कमियों को वे अपने बच्चों में पूरा होते देखना चाहते थे, इसलिये बच्चों की पढ़ाई ही उनके जीवन का एक मात्र उद्देश्य बन गई थी।

अशोक और वीना जब दूसरी बार घर आये तो उन्हें अपनी कोठी का वातावरण पसन्द ही न आया। घर में उन्हें स्कूल की-सी सफ़ाई न मिलती। माँ का प्रेम करने का ढँग गँवारू-सा लगता। इन बच्चों के घर आने पर खाने वाली मेज़ पर काँटा-छुरी लगा दिया जाता। परन्तु जानकी खाना हाथ ही से खाती। सूखी तरकारी तो वह डोंगे में से हाथ से ही उठा लेती।

एक दिन मेज़ पर बैठ सब खाना खा रहे थे। सूखी तरकारी का डोंगा अशोक से कुछ दूरी पर जानकी के सामने पड़ा था। अशोक ने अँग्रेज़ी में अपने पापा को डोंगा पकड़ाने के लिये कहा। केप्टन चौहान न जाने किस सोच में थे, उन्होंने सुना नहीं।

वीना झट बोल उठी, "माँ ! भैया को सूखी तरकारी दो न ?"

जानकी ने तरकारी हाथ से उठा कर अशोक की प्लेट में डाल दी। अशोक को माँ की गँवारू गन्दगी बुरी लगी। वह अपनी कुर्सी को पीछे की ओर घसीट, बिना कुछ खाये उठने को ही था कि केप्टन चौहान की जैसे नींद खुल गयी। उन्होंने अशोक को बैठने के लिये कहा और झुँझला कर जानकी की ओर देखा। वीना ने अपनी भोली भाषा में सारी बात सुनाई। इस पर पति-पत्नी में झगड़ा हो गया और दो-तीन दिन वे आपस में न बोले।

केप्टन चौहान के बच्चों को कानवेंट में पढ़ते तीन साल बीत गये। अब बच्चों की जबान पर अंग्रेज़ी कठपुतली की भाँति नाचने लगी। छुट्टियों में घर आने पर अशोक और वीना उदास-उदास रहा करते, क्योंकि

पापा दफ़्तर चले जाते और माँ को अंग्रेज़ी न आती। इस लिये वे दिन भर जासूसी उपन्यास पढ़ते। या कभी अंग्रेज़ी खेल-ट्रेड (Trade) आदि खेला करते। जब पापा दफ़्तर से वापस आ जाते तो उन से ही बच्चे अंग्रेज़ी में बातें करते। जानकी कुछ न समझ पाने पर भी अपने पति और बच्चों के हिलते ओंठों को उत्सुकता से देखा करती।

कभी-कभी जब वह झुँझला उठती तो सोचती, 'उसके ही घर में, उसके अपने बच्चे उसी से बात तक न करें?'—फिर उसे विचार आता कि क्या वह चाहती है कि उसके बच्चे अंग्रेज़ी न पढ़ें? ऐसा तो वह नहीं चाहती। उसकी को अभिलाषा यह है कि वे अंग्रेज़ी के साथ हिन्दुस्तानी भी जानें।

अब यदि कोई केप्टन चौहान के बच्चों के अंग्रेज़ी एक्सेंट की तारीफ़ करे, तो झट कह उठते "आठ साल हो गये हैं कानवैंट में पढ़ाते। भला इन से बढ़िया किस का एक्सेंट हो सकता है!"

परन्तु आठ साल की कानवैंट की पढ़ाई ने बच्चों की संस्कृति और सभ्यता को केप्टन चौहान के घर की संस्कृति और सभ्यता से दूर कर दिया था। अब छुट्टियों में बच्चों के घर आने से जानकी और चौहान के व्यवहार में खिंचाव रहता। यद्यपि बच्चों के घर में न रहने पर उनकी साधारण गृहस्थी की गाड़ी, दो पहियों की भाँति एक दूसरे के अभाव को दूर करती चली जाती।

अब की बार अशोक और वीना बाल रूम डान्स सीख कर आये थे। दिन भर रिकार्ड लगा दोनों अभ्यास करते रहते। जानकी को बहिन-भाई का जवान होकर भी इस प्रकार चिपटना पसन्द न आया।—और जब उसे यह पता चला कि वीना स्कूल में दूसरे लड़कों के साथ भी नाच लेती है तो उसे और भी बुरा लगा। उसने अपने पति से साफ़-साफ़ कह दिया, "अशोक को चाहे जो मन में आये, सिखाओ, परन्तु मैं वीना को यह नाच-

वाच नहीं सीखने दूँगी!"

"—बच्चों के मामले में तुम दखल मत दिया करो! समझीं?" संक्षेप में केप्टन चौहान इतना कह कर अपने काम पर चल दिये।

बच्चे माँ की तनिक परवाह न करते। जानकी छुट्टियों के दिन गिना करती कि कब बच्चे वापस जायँ तो घर में शान्ति हो। पर थी तो माँ ही, इसलिये प्रायः एक कोने में बैठ घंटों रोया करती कि पास होते हुए भी उसके बच्चे उससे कितनी दूर हैं।

कानवैंट ने बच्चे तो उसके छीन लिये थे परन्तु अशोक और वीना के घर आने पर उसके पति भी उससे छिन जाते। घर में पति और बच्चों के होते हुए भी वह विधवा और वन्ध्या थी।

जानकी कई बार बच्चों के विमुखतापूर्ण व्यवहार की शिकायत करती, परन्तु हर बार अपने पति से झिड़की खाकर निश्चय करती कि वह आगे से कभी इस विषय पर बात न करेगी। फिर जब दुख से उसकी आत्मा छटपटाने लगती तो उससे रहा न जाता। एक दिन वह अपने पति से बोली, "आप बच्चों को इतना तो समझा दीजिये कि मैं उनकी माँ हूँ। और कुछ नहीं तो जैसे नौकरों से टूटी-फूटी हिन्दुस्तानी में बात-चीत करते हैं, वैसे मुझ से भी बोल लिया करें! इस तरह अपने आप में घुट-घुट कर जीने से तो मरना अच्छा! इस प्रकार मेरा दम घुटता है।"

केप्टन चौहान कई बार जानकी की इस तरह की शिकायतें सुन तंग आ चुके थे। इस समय उन्होंने जानकी की बात नहीं सुनी, पर झट किताब की ओर देखते हुए बोले, "जब बच्चे छुट्टियों में घर आयँ, तो तुम अपने मायके चली जाया करो!"

अपने पति का अन्तिम वाक्य सुन कर जानकी संज्ञाहीन खड़ी रह गई। उसे ऐसा लगा, जैसे बच्चों की माँ वह नहीं, कानवैंट ही उनकी माँ बन चुकी है।

टिप

टिप किसी ज़माने में सिर्फ़ अंग्रेज़ी का शब्द था, परन्तु अब तो हिन्दुस्तान भर के बैरों की सम्पत्ति बन चुका है। रेस्तोराँ या काफ़ी हाउस में बैरे को बिल के ऊपर से जो रक़म देने पर बढ़िया किस्म का सलाम मिलता है, उसे टिप कहते हैं। सलाम का बढ़ियापन भी आपके टिप पर निर्भर है। जैसा दाम वैसा सलाम !

टिप देते समय यह भी देखना होगा कि आप किस स्टेन्डर्ड के रेस्तोराँ में बैठे हैं। दूसरे अर्थ में बढ़िया रेस्तोराँ में बढ़िया टिप करने पर ही आप को बढ़िया सलाम की उम्मीद हो सकती है।

रुपयों में टिप दो तो बैरा सीधा खड़ा हो, धीरे से मुस्करा, पहले तो आपके टिप देने पर सलाम करेगा, फिर रेस्तोराँ का दरवाज़ा खोलते समय आदाब बजा लायगा।

आनों तक सीमित टिप के लिये बैरा केवल पैसे जेब में डालते समय ही मुस्कराता हुआ सलाम करेगा।

असल में रेस्तोराँ आदि जा कर टिप करना उतना ही ज़रूरी समझा जाता है, जितना मन्दिर में जा कर फूल चढ़ाना। और बिना टिप दिये रेस्तोराँ से वापस आ जाना उतना ही बड़ा पाप माना जाता है जितना प्रयाग जाकर स्नान किये बिना वापस आ जाना। तनिक सूक्ष्मता से देखा जाय, तो पता चलेगा कि टिप करना रेस्तोराँ में पालन किये जाने वाले बहुत से एटीकेटों, शिष्टाचारों में से एक है। और सभ्य समाज के ये एटीकेट भी किसी नयी भाषा की तरह सीखने पड़ते हैं।

मैट्रिक पास कर मैं नया-नया कालेज में आया था। उन दिनों कालेज में पढ़ने वालों के लिए कैफ़े-रेस्तोराँ को आबाद करना उतना ही महत्व रखता था, जितना कालेज की कक्षाओं में हाज़िरी देना। शहर के बड़े-बड़े रेस्तोराँ में हो आना बड़े मान की बात समझी जाती।

अपनी रुचि का साथी न पा अकेले घूमने की आदत मेरी बहुत पुरानी है। सो अकेला दिल्ली में घूम रहा था। पैसे भी जेब में दुर्भाग्य से कुछ आवश्यकता से अधिक थे। दिल्ली के सब से बढ़िया रेस्तोराँ में जा चाय पीने की ठानी।

रेस्तोराँ की दीवारें, कुर्सियाँ, मेज़ और बैरों की वर्दियाँ खूब चमक रही थीं। परन्तु कोई विशेष भीड़ न थी। बैरा सामने आ कर खड़ा हो गया। मीनू पर एक नज़र डाल कर सैंडविचिज़ और चाय मँगवाई। एक रुपया चौदह आने का बिल आया।

मैंने अपने मित्र से सुन रखा था कि बड़े-बड़े रेस्तोराँ में टिप करना बहुत ज़रूरी माना जाता है। वैसे छः पैसों की चीज़ के लिये दो आने दे कर अपनी रईसी का परिचय मैं कई बार स्कूल में भी दे चुका था, परन्तु रेस्तोराँ में टिप अभी तक कभी न दी थी। तभी बैरा बिल लाया। मैंने दो रुपये दिये। जब वह प्लेट में दो आने रख कर लाया तो मैंने सिर हिला दिया कि इन्हें तुम अपने पास रखो, यह तुम्हारी टिप है। और

मैं बैरे के सलाम की बाट देखने लगा।

बैरे ने सलाम नहीं किया। कड़े स्वर में बोला, "रहने दीजिए साहब। सिगरेट आदि के लिए आपको दरकार होंगे!" दो आने टिप दे कर मैं अपनी उदारता का परिचय दे रहा था, और उधर यह हालत थी। घबरा कर बोला, "नहीं, नहीं। तुम पी लेना। मैं सिगरेट नहीं पीता।"

बैरे ने पैसे मेज़ पर रख दिये, परन्तु मैं बिना उस ओर देखे कुर्सी से उठ वहाँ से ऐसा भागा, जैसे मुझे कोई पकड़ने को आ रहा था। रेस्तोराँ से जब काफ़ी दूर आ गया, तो दम में दम आया और सोचने लगा कि शायद टिप कुछ कम दी गई। निश्चय किया आगे से ज्यादा टिप दिया करूँगा।

कुछ दिनों बाद अपने मित्रों के साथ काफ़ी हाउस गया। चार रुपये का बिल आया। एक रुपया मैंने टिप में दे दिया। बैरे ने मुस्करा कर सलाम किया। मेरा सामान मेरे आगे-आगे ले जा कर दरवाज़ा खोल, मुस्तैदी से खड़ा हो गया और मेरे बाहर होने पर मुझे मेरा सामान दे कर उसने फिर सलाम किया। मुझे यह भला लगा। पर चार क़दम चलते ही दोस्तों ने मेरी रईसी का कुछ इस तरह मज़ाक उड़ाना शुरू कर दिया कि अपनी मूर्खता पर हँसी आने लगी। अब की बार टिप आवश्यकता से कुछ अधिक हो गई थी।

अजीब मुसीबत है इस टिप की भी। कभी कम हो जाती और कभी ज़्यादा। अब पता चला कि रेस्तोराँ का स्टैंडर्ड देख कर टिप देना चाहिये।

अब किसी भी रेस्तोराँ में घुसते ही अपनी बुद्धि को उस रेस्तोराँ का स्टैंडर्ड नापने और तौलने में लगा देता हूँ। जितनी देर रेस्तोराँ में रहता हूँ, बस यही सोच लगी रहती है कि बिल आने पर आख़िर क्या टिप दिया

जायगा। टिप देने के बाद भी अक्सर यही डर रहता है कि कहीं बैरा उसी सरपरस्ताना ढंग से पैसे वापस न कर दे।

वैसे तो अब मैं किसी भी नये रेस्तोरां जाने से पहले लोगों से वहाँ के टिप का रेट पूछ लिया करता हूँ। परन्तु एक दिन एक बिलकुल नये रेस्तोरां जाने की सूझी। अन्दर पहुँचा बाहर ज़ोरों की गर्मी होने पर भी अन्दर पहाड़ी की सी मीठी-मीठी ठन्डक, दीवार पर हल्की-हल्की रोशनी और सुन्दर चित्र, चमकते मेज़ और गद्देदार कुर्सियाँ। उस चमक-दमक का एक आतंक मुझ पर छा गया।

यह चमक-दमक और चुस्ती यों तो ठीक ही थी, पर मैं यह सब देख यह सोचने लगा था कि आख़िर बैरे के बिल लाने पर उसे क्या टिप दूँगा। इतनी गम्भीरता से मैं इस विषय पर सोच रहा था कि बैरा आकर खड़ा हो गया और मुझे पता न चला। बैरे की मुस्कान मुझे फ़िलास्फ़र समझे बैठी थी। परन्तु मैं क्या सोच रहा था? कौन जानता है?

"आधा सेट चाय!"

"और कुछ नहीं साब?" आश्चर्य के साथ बैरे ने कहा। उसके इस प्रकार पूछने से मैं उलझन में पड़ गया। शायद यहाँ लोग सिर्फ चाय पीने नहीं आते। अवश्य कुछ और मँगवाना चाहिये।

"पेस्ट्री," मैं बोला,!

जल्दी से चाय और पेस्ट्री के पाँच पीसेज़ आ गये। बैरे की फुर्ती ने दंग कर दिया। परन्तु रेस्तोरां का ठीक स्टैंडर्ड अभी तक न माप सका। मैं चाय बनाने लगा। मेरे साथ की मेज़ से लोग उठने जा रहे थे और बैरे को टिप कर रहे थे। मैं केतली से चाय प्याले में ढाल रहा था, सो वैसे ही कुर्सी से ज़रा ऊपर उठ बैरे की ट्रे में देखने की कोशिश की, टिप के आने गिनने लगा—एक दो तीन उफ़! पैंट पर कुछ गर्म पानी का स्पर्श महसूस हुआ। चाय का पानी प्याले की जगह पेस्ट्री की प्लेट भर कर

मेज़ के नीचे पैंट पर गिर रहा था।

सारी पेस्ट्री ख़राब हो गयी यानी कि खानी पड़ेगी। पैंट को साफ़ कर रहा था कि बैरे ने फुर्ती से मेज़ साफ़ कर दिया और पेस्ट्री की प्लेट से भी चाय का पानी निकाल दिया।

बैरे की इस फुर्ती से मुझे तो नुकसान ही पहुँचा, ज्यादा टिप देनी पड़ेगी, यह चिन्ता लग गई। उधर सारी पेस्ट्रियों के खाने के कारण बिल भी कुछ भारी आया। बिल के भारीपन ने दिमाग़ चकरा दिया और मैं उसी ग़म में टिप देना भूल गया। टिप न पाने पर भी जब बैरे ने मुस्करा कर सलाम दिया, तो लगा, जैसे उसने मेरे मुँह पर चपत जड़ दी हो। और वह हल्की मुस्कान जैसे कह रही थी बेचारा पहली बार रेस्तोराँ में आया है!

अपनी गर्ल फ्रेंड्स अर्थात मित्र लड़कियों के साथ रेस्तोराँ आदि जाना भी अपना महत्व रखता है। याने कि जब आप अपनी किसी मित्र लड़की के साथ किसी रेस्तोराँ में घुसेंगे तो आपके साथी मित्र लड़के ईर्षा के साथ देखेंगे और बस उनकी यह ईर्षा की दृष्टि ही आपकी खुशी का कारण बन जायगी। पिछले दिनों मेरी भी एक लड़की मित्र बन गई। एम० ए० करके वहीं नयी नयी कालेज में पढ़ाने लगी है।

एक बार उसके साथ रेस्तोराँ में गया तो खूब भूख लग रही थी। बिल आया तीन रुपये बारह आने। मैंने पाँच रुपये का नोट बैरे की प्लेट में रख दिया। मैं बैरे के वापस आने की बाट देखने लगा पर मेरी मित्र ने अपने बटुए से लिपस्टिक निकाली। ओंठों को ठीक किया और बालों को सँवार कर चलने को उद्यत हो गई।

"तो चलें?" मुझे हिलते न देख कर उसने कहा।

"बैरा को तो आ लेने दो," मैंने कहा।

"अरे, अब उसमें आप क्या लेंगे?" बड़ी अदा से ओंठों की लाली को ख़राब होने से बचाते हुए वह बोली।

मैं भौंचक्का हो अपनी मित्र को बड़ी नज़ाकत के साथ मरमेड की तरह उठते देखने लगा। और मुझे उसकी इस दिखावे की रईसी पर बड़ा क्रोध आया। मैं उसकी औक़ात जानता था। मान लिया, वह कालेज में पढ़ाने लगी है पर इसका यह मतलब नहीं कि मुझ पर, मेरी क़ीमत पर, यों रोब जमाये।

"चलिये भी!" उसने बड़ी अदा से कहा।

मैं चल पड़ा। "बैरा हमारी ही ओर प्लेट में शेष पैसे लिये आ रहा था। मेरी मित्र ने अपनी साड़ी का पल्लू सम्हाल, ओंठों की रेखा में हल्का सा बलला, तनिक मुस्कराते हुए बैरे की ओर निमिष भर देखा और सिर के बड़े हल्के इशारे से उसे जता दिया कि वह उसका टिप है।

बैरे ने झट सलाम दिया और बढ़ कर दरवाज़ा खोला।

मैं एक हाथ में एक पुस्तक और दूसरे में एक बंडल पकड़े अपनी मित्र के पीछे पाँव पटकता रेस्तोराँ से बाहर निकला कि बैरे ने ज़ोरों से सलाम दिया। यह सलाम भी केक पेस्ट्री की तरह मेरी मित्र ने दस आने को मोल ले दिया है, मैंने सोचा इस लिये इसे तो स्वीकार कर लेना चाहिये। तब न जाने मुझे क्या सूझा, मैंने दायें हाथ का बंडल बायीं बग़ल में दबाया और दस आने के सलाम का उत्तर एकदम पैर जोड़ कर फ़ौजी ढंग से दिया।

बैरा ही नहीं, मेरी मित्र और रास्ता चलते लोग भी हैरानी से मेरी ओर देखने लगे।

दो पैकेट सिगरेट

शिमले में कुछ ऐसी जगहें भी हैं, जहाँ बड़े-बड़े अफ़सरों को भी कुलियों के संसर्ग में आकर उनसे बातें करने को मजबूर होना पड़ता है। चलते समय अगर बातें न की जायँ तो ऐसा लगता है जैसे वह रास्ता कभी ख़त्म ही न होगा। शिमला क्लब के पास से ऐसे ही एक रास्ते पर मैं जा रहा था। क्लब बिजली की रोशनी से जगमगा रहा था। अँग्रेज़ों के प्रति कृतज्ञता हुई कि किस उदारता से वे उच्च वर्गीय अफ़सरों के लिए मन बहलाव का प्रबन्ध कर गये हैं। अँग्रेज़ी नाच की धुन सुनाई दी। अँग्रेज़ी नाच भी क्या खूब है! पति-पत्नी एक साथ आनन्द पाते हैं; कुमारियों को जीवन-साथी ढूँढने में सुभीता; कुँवारों को मन-बहलाव की आसानी!

रात के ग्यारह बज चुके थे। बहुत कम लोग सड़क पर दिखाई देते थे। हाँफता हुआ मैं अकेला चढ़ाई चढ़ने लगा। ऐसे अवसरों पर शरीर के साथ दिमाग़ भी प्रायः थक जाता है और निरर्थक बातों में रस पाने लगता है।

मेरे सामने दो आदमी जा रहे थे। वर्दी से पुलीस के अफ़सर दिखाई देते थे। एक लम्बा चौड़ा जवान और दूसरा छोटा और नाटा-सा व्यक्ति। यद्यपि उनकी बातें सुनने की विशेष इच्छा न थी, फिर भी सब कुछ सुनाई दे रहा था :

"यार! आज तो एक सौ तीन रुपये हार गया। बड़ा अफ़सोस हो रहा है।" लम्बा चौड़ा जवान बोला।

"पोकर में तो ऐसा हुआ ही करता है," छोटे और नाटे व्यक्ति ने लापरवाही से उत्तर दिया।

"मालूम होता है जीत कर उठे हो। कितना जीते?"

"जीता तो कुछ ख़ास नहीं, पर हाँ, हारा भी नहीं।"

"तभी लैक्कर भाड़ रहे हो।"

"नहीं, ऐसी बात नहीं, पिछले महीने मैं भी दो सौ पच्चीस रुपये हार गया था।"

"और मैं तीन सौ के लगभग।"

"पोकर और ब्रिज तो खेल ही है ऐसे हैं। हार-जीत तो चलती ही रहती है। अगर तुम्हारी तरह हार कर अफ़सोस करने लगें तो खेल चुके।" छोटा और नाटा व्यक्ति बोला।

"ब्रिज भी न खेलें तो शाम कटनी मुश्किल हो जाय। इतना अच्छा 'पास-टाईम' (Pastime) और कोई नहीं मिलने का।"

"यही तो मैं भी कहता हूँ। परन्तु हार कर पछताया मत करो। आज हारे हो, कल जीतोगे।"

"पोकर में ही अधिक हार होती है। अब पोकर न खेला करूँगा, ब्रिज ही खेलूँगा। पर यार, ब्रिज में भी दिलीप से जीतना आसान नहीं। खूब खेलता है। बस, कल से दूसरी मेज़ पर बैठा करूँगा।"

"यह बात तो मानी। पर हारे पैसों की बात मुझे नहीं जँचती।"

और फिर एक दूसरे की ओर देखकर दोनों ही खोखली हँसी में फूट पड़े।

मैं सोच रहा था कि काफ़ी देर हो गई है। इनके पीछे चलना ठीक नहीं। कहीं कुछ संदेह ही न करने लगें।

मैं तेज़ क़दमों से उनके पास से निकला। तभी सामने बूटों के मिलने से एक 'ठक' की आवाज़ आई। एक सिपाही फ़ौजी अन्दाज़ में अपने अफ़सरों को सलाम दे रहा था। सिपाही के पीछे एक कुली हथकड़ी में जकड़ा खड़ा था।

क्षण भर बाद सिपाही और कुली, जो अफ़सरों के आगे-आगे जा रहे थे, अब पीछे हो गये। अफ़सर बराबर के होटल में चले गये। सिपाही और कुली वहीं रह गये।

मेरे मन में कुतूहल जगा। सोचा, ज़रूर चोरी की होगी। ऐसे पाजियों को यदि पुलिस न पकड़े, तो शहर में गुंडा-गर्दी छा जाय।

फिर विचार आया, यह तो अनुमान ही है। ठीक जुर्म क्या है, यह जानना चाहिये। मैंने फिर अपनी चाल मद्धिम कर दी, उनके आगे निकल जाने के बदले सिपाही और कुली के पीछे हो लिया और सड़क के किनारे के अँधेरे में आ गया।

कैदी की पीठ मेरे सामने थी। कमीज़ पीछे से कई जगहों पर फट चुकी थी और पाजामा कई रंग के टाँकों से भरपूर था। सिर पर गर्म, गोल पहाड़ी टोपी और पाँव नंगे थे। ज़रूर रिक्शा-कुली होगा।

सिपाही के पीछे चलता हुआ कुली मिन्नतें कर रहा था। "सन्तरी साब, अब की बेर माफ़ कर दो। आगे जो कभी आप देखें तो जो चाहें सजा दें। आपके पाँव पड़ता हूँ।" सन्तरी के घुटनों को छूने का यत्न करता हुआ वह बोला "मेरे बाल-बच्चों पर तरस खाओ! मैं जेल गया तो वे बेचारे भूख से मर जायेंगे।" सन्तरी ने तिरछी आँखों से कुली की ओर देख कर कहा, "कितना जीते?"

"हजूर ! हजूर ! बस, सवा रुपया।"

मैं सोचने लगा जब यह कुली लोग इतनी मुश्किल से अपने बीवी-बच्चों के लिए दो कौर जुटा पाते हैं, तो जुए के लिए पैसे कहाँ से पा जाते हैं? पाजी कहीं के! लेकिन पुलिस के अफ़सर भी तो जुआ खेल कर आ रहे थे। सिपाही ने उन्हें अदब से सलाम किया था और इसे हथकड़ी लगा दी थी। लेकिन ब्रिज या पोकर को जुआ कहना क्या ग़लत नहीं, मेरे अन्दर बैठे अफ़सर ने तर्क किया। ये खेल तो क्लबों में खेले जाते हैं और समय काटने का बहाना मात्र हैं। उन्हें जुआ कहना अन्याय है।

परन्तु बुद्धि ने इस तर्क को न माना और मैं फिर सोचने लगा। जुआ एक अपराध माना गया है, चाहे वह किसी भी किस्म का क्यों न हो, जुआ तो वह रहेगा ही। अमीर भी जुआ खेलता है, ग़रीब भी; सभ्य और असभ्य भी। सुना है, पाण्डव भी जुए में राज-पाट, यहाँ तक कि अपनी विवाहिता द्रौपदी को हार गये थे। प्रत्येक मनुष्य जुआ खेलता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मानव जुआ खेलता आया है और खेलता जायगा। और देखा जाय तो मनुष्य के मुख्य सहज ज्ञान (Instinct) में जुआ खेलना भी एक है।

मैं रुका था और कुली गिड़गिड़ा रहा था। सिपाही इस कोशिश में था कि यह कितना जीता है, यह ठीक-ठीक जान ले कि दोनों अफ़सर होटल से निकले। कदाचित व्हिस्की का एक बड़ा पैग चढ़ा, हार का ग़म ग़लत कर के। हार जाओ तो ग़म ग़लत करने के लिए शराब पी जाती है; जीत जाओ तो जीतने की खुशी में अपने साथियों को यदि शराब न पिलाई जाय तो आगे से जीतना मुश्किल हो जाय।

मैं यही सब सोच रहा था कि एक धक्का लगा "सन्तरी, दो पैकेट सिगरेट।"

"ठक" की आवाज़ हुई। सन्तरी काफ़ी समझदार लगता था। उसने झट निर्णय कर लिया। हथकड़ी में जकड़ा कुली और सन्तरी सिगरेट की

दुकान पर गये। सन्तरी ने दो पैकेट सिगरेट एक हाथ से लिये और दूसरे हाथ से एक बीड़ी का बण्डल जेब में डाला। कुली की हथकड़ी खोल दी गई।

दोनों अफ़सरों के ओंठों पर सिगरेट नाचने लगी। छोटे और नाटे अफ़सर ने सिगरेट सुलगाने के लिए एक सलाई जलाई। रोशनी में जाता हुआ कुली सर झुका कर उन्हें सलाम कर रहा था और सिपाही अपने फ़र्ज़ को पूरी तरह अदा करने पर मुस्करा रहा था। इतने में सलाई बुझ गई। अँधेरा छा गया।

मैं आगे चल दिया।

प्रयोग

"कौन ?"

"बूझ जाओ" एक चंचल स्वर सुनाई पड़ा ।

फ़ाउन्टेनपेन के क्लिप को जेब में खोंस और खुला पेन दायें हाथ में पकड़े डाक्टर उमाकान्त ने सिटकिनी खोल दी। उनके बायें हाथ में एक मोटी सी खुली नोट बुक थी जिसे उन्होंने अपने पीछे कर लिया था—आँखों पर मोटे शीशों वाला रिमलेस चश्मा चढ़ा हुआ था। वह इसकी ओर संकेत कर रहा था कि डाक्टर अपने फ़ार्मूलों में बुरी तरह उलझा हुआ था।

अपने काम में बाधा आ जाने से उसकी भौंहों पर बल पड़ गये थे, पर दूसरे ही क्षण आगन्तुक के एक बिल्लौरी क़हक़हे ने कमरे के घुटे गम्भीर वातावरण को बिखरा दिया—उसके सामने लिली खड़ी थी।

उमाकान्त की भौंहों के बल कुछ ढीले पड़ गये। कुछ आश्चर्य से बोला, "तुम—लिली !"

छरहरे लम्बे कद की एक गोरी सी युवती ने एक कदम आगे बढ़ाया। सेन्ट की तेज खुशबू कमरे में फैल गयी। उसकी बड़ी बड़ी काली आँखें पिघली सी नज़र आ रही थीं—लिली ने एक क़दम और आगे बढ़ाया और उलाहना भरे स्वर में बोली "आपको मेरा आना शायद अच्छा नहीं लगा......"

डाक्टर जैसे सहसा जाग पड़ा। "ऐसी बात नहीं है लिली, मुझे ग़लत मत समझो!" और परेशानी में उसने अपने पीछे छिपाई मोटी नोट बुक को आगे लाकर उलटना शुरू किया।

लिली के चेहरे पर एक नया आलोक सा बिखर उठा। बड़े गम्भीर स्वर में बोली, "एक बात पूछूँ डाक्टर?"

"हाँ, हाँ," डाक्टर ने अनमने भाव से कहा।

कुछ हिचकिचाकर वह बोली, "डाक्टर क्या तुम्हें विश्वास है कि तुम ऐसी ओषधि का आविष्कार कर लोगे जिससे जन्मान्ध व्यक्तियों को उनके नेत्रों की ज्योति मिल जाय?"......सहसा डाक्टर की ओर देखकर वह रुक गई।

डाक्टर का चेहरा विचित्र रूप से ऐंठ सा उठा। उसे गहरी चोट लगी थी। लिली के स्वर में जो शंका थी, वह उस से छिपी न रह सकी—नारी का अविश्वास पुरुष के आत्म विश्वास के धुर्रे उड़ा देता है। क्षण भर को उसे ऐसा जान पड़ा जैसे संसार का सारा प्रकाश एकदम से गुल हो गया है—वह अँधेरे में छटपटा रहा है—और इस छटपटाने की व्यर्थता उसके नेत्रों के सन्मुख स्पष्ट हो उठी। कहीं वह मृग मरीचिका के पीछे तो नहीं दौड़ रहा है—दूसरे ही क्षण उसने लिली को चैलेन्ज सा फेंका।

"आज सम्भवतः मेरा प्रयोग समाप्त हो जायगा और......" आगे उसकी आवाज़ की थर्राहट ने वह सब कह दिया जिसे वह शब्दों का रूप न दे सका था—उसकी आवाज़ की थर्राहट में सफलता का जय-घोष

ध्वनित हो रहा था!

"ओह कान्त !" कहते हुए लिली उसके निकट सरक आई—उसकी आँखें और भी पिघल उठी थीं और उसके सारे व्यक्तित्व का वायवीकरण सा हो गया था। कुछ क्षण तक ऐसा लगा जैसे अपने पर से उसका काबू जाता रहा है। वह एक क़दम और आगे बढ़ी—उसका सर डाक्टर की छाती पर टिक गया और उसने अपनी आँखें मून्द लीं—डाक्टर एक क्षण के लिये अभिभूत सा रह गया—फिर उसने अपनी छाती पर लिली के रेशमी बालों वाले सर का भार महसूस किया—फिर उसकी लम्बी साँसों की गरमी उसके हृदय को गर्माने लगी—लिली ने अपना चेहरा उसकी छाती पर इतने कसकर दबा रखा था जैसे वह अपनी हर साँस डाक्टर के अन्तर में उँडेल देना चाहती है! फिर ज़रा आँखें खोल कर जैसे स्वप्न में फुसफुसा उठी—"कान्त......कान्त......तुम्हारी खोज से समस्त भारत में तहलका मच जायेगा—भारत ही क्यों विदेश में भी अभी तक जन्मान्ध व्यक्तियों को दृष्टि वापिस दिलाने के कोई प्रयत्न सफल नहीं हुए हैं—मेडिकल वर्ल्ड में तुम्हारा नाम स्वर्ण अक्षरों से सदैव के लिए अंकित हो उठेगा।......उसकी आवाज़ घुटने लगी......"कान्त...... क्या तब तुम्हारी दुनिया में मेरा भी एक छोटा सा स्थान रहेगा......." और उसने एक लम्बी साँस खींची......

लिली के इस समर्पण ने डाक्टर को यथार्थ जगत से खींच कर स्वप्न-दृष्टा बना दिया—वह भी स्वप्नों में खो गया......उज्जवल भविष्य, यश, धर्म—नई खोजों के लिये स्वतंत्र लेबोरेटरी—विदेश यात्राएँ.......

(२)

"नमस्कार डाक्टर—बड़ी देर कर दी आज?" प्रयोगशाला में घुसते ही मालती ने प्रश्न किया।

डाक्टर की सीटियाँ रुक गईं। उसने मालती पर एक उड़ती सी दृष्टि डाली—साधारण चेहरा—साँवला रंग—मालती उसके जीवन का ऐसा अंग थी जिस पर ध्यान तक न जाता था। उसके प्रयोगों में असिस्टेंट का काम करती थी—पर अकसर उसे लगता कि मालती भी उसके प्रयोगों में स्वयं दिलचस्पी लेती है। नहीं साधारण असिस्टेंट से इतनी मेहनत की आशा न की जा सकती थी! लेबोरेटरी में आठ-आठ दस-दस घंटे जागरूक खड़े रहना और उसकी सभी जरूरतों को बिना कहे जान लेना—जब तक उस विषय में रुचि न हो, यह सभी के बस का काम न था।

ऐप्रिन ले वह डाक्टर के पीछे आ पहुँची और डाक्टर ने अपनी बाहें पीछे फैला दीं। ऐप्रिन का बन्द बाँधते हुए डाक्टर मुस्करा उठा और बोला "आज अन्तिम प्रयोग है मालती।"

"May God Grant you success !" मालती बोली और शीशे की कुछ फ़नल उठाकर मेज़ पर रखने लगी।

"आज मैं सुख की नींद सो सकूँगा, मालती! इन पाँच सालों में एक दिन भी ऐसा नहीं याद आता जब मैं पूरी नींद ले सका हूँ। अब पूर्ण विश्राम करूँगा"—फिर सहसा मुस्करा कर बोला, "मालती तुमने कभी किसी से प्रेम किया है?......"और वह मेज़ के पास आ कर खड़ा हो गया।

मालती वाश बेसिन के करीब सिर झुकाये कुछ यंत्रों को साफ करने में व्यस्त थी। डाक्टर का प्रश्न शायद उसके कानों तक न पहुँचा था। डाक्टर अपनी झोंक में कहता गया "इस औषधि को रजिस्टर कराने के बाद मैं एक साल का अवकाश लूँगा। विवाह के बाद फौरन ही हम काश्मीर चले जायेंगे—लिली को देखा है तुमने......"

मालती ने कोई उत्तर न दिया!

डाक्टर को मालती की यह उदासीनता बुरी लगी। वह बोला "क्या तुम्हें खुशी नहीं हो रही है मालती कि आज हमारा प्रयोग समाप्त हो जायगा?"

उसने ध्यान से मालती की ओर देखा। इस बार मालती ने सिर उठाया और उसकी गम्भीर संयत दृष्टि डाक्टर की आँखों से मिल गई—वह धीरे से बोली "मेरी समस्त शुभकामनाएँ आप के साथ हैं—पर डाक्टर किसी चीज़ को बिना पाये उसके सुख का अनुभव करना एक वैज्ञानिक के लिए उचित नहीं!"

डाक्टर जैसे सहसा जाग पड़ा और उसने मालती पर एक कृतज्ञता पूर्ण दृष्टि डाल कर कहा "ठीक कहती हो मालती। मैं भूल गया था कि मैं वैज्ञानिक हूँ। मुझे तो परिणाम के ठीक होने पर ही प्रसन्नता होनी चाहिए।"

वह अपने प्रयोग में व्यस्त हो गया। जरा देर बाद बोला "फिल्टर देना मालती।"

बहुत दिनों बाद आज डाक्टर को अपनी आवश्यकता की वस्तु माँगनी पड़ी थी। सदैव तो मालती स्वयं ही उसकी आवश्यकता का सब सामान बिना माँगे ही उपस्थित कर देती थी।

मालती सिर झुकाये वाश बेसिन में यंत्रों को साफ़ करने में व्यस्त थी। एक क्षण बाद धीरे से बोली "अभी लाई।"

डाक्टर को फ़िल्टर मिल गया। उसे सिर उठाने तक की फ़ुर्सत न थी। शाम हो चली थी, पर डाक्टर गैसों और रसायनों की दुनिया में खोया हुआ था। मालती उसके पीछे बुत की तरह खड़ी थी। जब वह कुछ माँगता लाकर उपस्थित कर देती। फिर भी आज उसके हाथों में पहले की सी चुस्ती और तत्परता न थी। कई बार तो डाक्टर को आवश्यक चीज़ें पाने के लिए दुबारा भी कहना पड़ा। पहले ऐसा कभी न हुआ था।

उसने मालती से लाइट जलाने को कहा। डाक्टर के सिर के ऊपर हाई पावर का बल्ब जल उठा। पिछले २१ सप्ताहों से वह एक अँधे मनुष्य पर अपने प्रयोग कर रहा था। इस समय वह सामने रखे एक ड्रम को गरमा रहा था। उस से निकलती गैस में एक विशेष ताप पर दो धातुओं की रगड़ से निकलने वाले प्रकाश को रोगी की आँखों पर डालना था। आपरेशन हो चुका था—पट्टी खुलते ही प्रकाश रोगी की पुतलियों में पड़ना चाहिए था।

सहसा वह कुछ झुँझला कर बोला, "आखिर गैस क्यों नहीं आ रही? आगे तो कभी इस यंत्र ने तंग किया नहीं—मालती ज़रा रेफ़्लेक्टर्स का कोण ठीक कर दो ताकि रोशनी सीधे आँख की पुतलियों पर पड़े!"

डाक्टर की भवों पर बल कभी गहरे हो जाते और कभी सफलता की आशा से उसका तना चेहरा ढीला पड़ जाता—आँखें चमक उठतीं। दूसरे ही क्षण वह फिर ओंठ चबाने लगता। मालती बड़े ध्यान से उसकी सारी चेष्टाएँ देख रही थी।

तभी काल बैल बज उठी।

"देखो बाहर कौन है, पर अन्दर मत आने देना!" डाक्टर गैस के यंत्र को फिर से ठीक करने की चेष्टा करता हुआ बोला।

दरवाज़ा खुलते ही तेज़ सेन्ट का एक झोंका मालती से लिपट गया। मालती की नाक ज़रा सा सिकुड़ी और उसने ध्यान से लिली को देखा। सफ़ेद दूधिया चेहरे पर रक्त वर्ण ओंठ उसे बड़े घृणित लगे। आँखों की कोरें पेंसिल से तेज़ की गईं थीं ताकि नेत्रों के बड़े होने का आभास हो?

"डाक्टर हैं?" लिली ने पूछा।

"इस समय वे नहीं मिल सकते" मालती ने संयत स्वर में कहा।

"क्यों?" लिली ने लाल पीली होते हुए कहा।

"मना है!"

अपने सिर को ज़रा सा पीछे फेंक कर वह बोली "जानती हो "मैं कौन हूँ?" लिली के चेहरे पर विश्व-प्रसिद्ध वैज्ञानिक की पत्नी बनने की मस्ती थी।

"मुझे जानने की विशेष उत्सुकता भी नहीं।" मालती बोली "पर इस समय प्रयोगशाला में कोई नहीं जा सकता।" मालती दरवाज़ा बन्द करके उसके आगे खड़ी हो गई।

लिली का सब्र सीमा पार कर चुका था! एक झटके से मालती को हटाकर उसने अन्दर घुसने की चेष्टा की, पर मालती अपनी जगह पर अटल रही—लिली ने अपनी शक्ति का ग़लत अन्दाज़ा लगाया था!

"अन्दर जाने देती हो या नहीं?" वह फूत्कार कर बोली।

"नहीं!" मालती ने दृढ़ता से कहा।

"तो, लो"—लिली ने तड़ से एक तमाचा उसके मुँह पर जड़ दिया और दूसरे ही क्षण भयभीत होकर पीछे हट गई—बहुत सर चढ़ा रखा है डाक्टर ने—और मुड़ कर वह चल दी।

मालती डाक्टर की भावी पत्नी को जाते देख रही थी। वह सोचने लगी—क्या एक अनुसन्धान-कर्ता की संगिनी ऐसी असहिष्णु होनी चाहिए—

सहसा एक ज़ोर का विस्फोट हुआ। अन्दर से दरवाज़ा बन्द कर मालती प्रयोग शाला में भागी! आँखों पर मज़बूती से हाथ दबाये पीड़ा से छटपटाता डाक्टर लड़खड़ाता हुआ अन्धों की तरह बाहर बढ़ रहा था—वह एक कुर्सी से टकरा जाता अगर मालती उसे बीच में न रोक लेती। वह चीख़ कर बोला "गैस का यंत्र फट गया......मेरी आँखों के सामने......अब क्या होगा मालती—उफ़!"

मालती भी घबरा उठी थी, पर तुरन्त उसने अपने आपको सम्हाला—उमाकान्त को सोफ़े पर लिटा दिया और डाक्टर माथुर को टेलीफ़ोन

किया—फिर वह ठंडे पानी के फाये उसकी आँखों पर बदलने लगी।

(३)

आज उमाकान्त की आँखों की पट्टी खुलने वाली थी! आपरेशन रूम की ऊँची खाट पर वह लेटा हुआ था—पलंग के दायीं ओर लिली बैठी थी। उसके चेहरे पर उद्विग्नता के चिन्ह स्पष्ट थे। पर डाक्टर का चेहरा काफ़ी शान्त लग रहा था!

लिली ने अपने को संयत करने की चेष्टा करते हुए कहा "कान्त!"

"हाँ" कहते हुए डाक्टर ने अपना हाथ लिली के हाथ को पकड़ने के लिए फैला दिया।

मालती चुपचाप कमरे के एक कोने में व्यस्त सी खड़ी थी। डाक्टर माथुर आ गये—सब की दृष्टि उन पर जम गई। लिली की उद्विग्नता और भी बढ़ चली। प्रतिक्षण उसके चेहरे के भाव बदल रहे थे—उसका चेहरा धूमिल सा हो गया था।

लिली ने डाक्टर माथुर से हाथ मिलाया और धीरे से फुसफुसाते हुए पूछा "कुछ आशा है डाक्टर?"

"आशा पर तो दुनिया क़ायम है!" डाक्टर ने गोल-मोल सा उत्तर दिया।

और वह अपने बैग को खोल कर सामान ठीक करने लगा।

"लिली!" डाक्टर ने पुकारा। लिली डाक्टर माथुर की ओर से उमाकान्त की ओर मुड़ी। वह लिली के हाथ को ढूँढ रहा था।

"क्या है?" लिली ने पूछा।

उसके हाथ को खोज कर दबाता हुआ उमाकान्त बोला "तुम कहाँ चली गई थीं लिली—मुझे इस तरह छोड़ कर मत जाया करो!—आज पट्टियाँ खुलेंगीं—इस ओर या उस ओर फ़ैसला हो जायगा।" डाक्टर के

हाथ की पकड़ और भी मज़बूत हो गई। फिर ज़रा रुक कर बोला "पर जब तक ये हाथ मेरे हाथ में है मुझे चिन्ता नहीं, चाहे मेरे नेत्रों की ज्योति हमेशा के लिए ही क्यों न छिन जाय।"

लिली का हृदय बड़े ज़ोरों से धड़क रहा था—उसके चेहरे की धूमिलता बढ़ गई—अनजाने उसका हाथ डाक्टर की पकड़ से सरक जाने की कोशिश कर रहा था! विश्व-प्रसिद्ध वैज्ञानिक की पत्नी—अन्धा उमाकान्त—उसका प्रयोग कभी पूरा न होगा। कभी कोई भी प्रयोग न कर सकेगा—उसे लग रहा था जैसे डाक्टर ने उसे धोखा दिया है—उसकी आशाओं, अरमानों, स्वप्नों सभी को चूर-चूर कर दिया है! उसे सदैव एक अन्धे व्यक्ति को गले में बाँध कर रखना होगा। "कभी नहीं" लिली के मुँह से निकला।

डाक्टर चौंक पड़ा "क्या लिली!"

अपने को सम्हाल कर वह बोली "ऐसा कभी नहीं होगा कि तुम्हारी ज्योति छिन जाये! तुम ठीक हो जाओगे। अपना प्रयोग पूरा करोगे और भी कितने ही प्रयोग—

डाक्टर माथुर बोले, "डाक्टर तैयार हो न!"

डाक्टर मुस्करा पड़ा। उसने एक बार फिर लिली का हाथ अपने हाथ में लेकर उस पर प्यार से दूसरा हाथ फेरा—पर वह हाथ ठंडा और निर्जीव सा था—न उसमें पहले की कोमलता थी न गर्मी—डाक्टर कुछ चौंक सा पड़ा पर चुप रहा।

"आप तैयार हैं न।"

"मैं तैयार हूँ!" उमाकान्त ने कहा।

डाक्टर माथुर पट्टियाँ खोल रहे थे।

कमरे का वातावरण घुटा-घुटा लग रहा था। लिली का जी हो रहा था कि इस कमरे से निकल भागे। डाक्टर बार-बार उस का हाथ पकड़

लेता था, पर उसका बच्चों का सा यह व्यवहार लिली को अच्छा न लग रहा था।

डाक्टर आँखें धो रहा था। लिली का चेहरा और भी धूमिल हो रहा था—कभी टहलने लगती और कभी सिरहाने आ बैठती।

डाक्टर माथुर पूछ रहे थे "कुछ दिखाई देता है?"

लिली का चेहरा सफ़ेद पड़ गया। मालती की शान्त-संयत दृष्टि भी उमाकान्त पर स्थिर थी—

उमाकान्त ने चारों ओर आँखें फिराईं और चीख़ कर बोला, "नहीं तो......डाक्टर क्या मैं......"

लिली के चेहरे की सफ़ेदी और भी बढ़ गई। वह उठ कर खड़ी हो गई। डाक्टर का हाथ एक विषधर सर्प की तरह उसके हाथ की ओर बढ़ रहा था। लिली का अन्तर चीत्कार कर उठा "भाग, वरना कुछ न हो सकेगा!"

"लिली, लिली"—डाक्टर ने पुकारा।

लिली एक झटके से खड़ी हो गई। अपने तेज़ क़दमों की आवाज़ से वह डाक्टर की पुकार दबा देना चाहती थी। वह बाहर निकली और तेज़ी से चल दी। मालती के चेहरे पर एक व्यंग्य-भरी मुस्कान नाच उठी। उमाकान्त लिली को खोजता हुआ दीवार से टकराने जा रहा था। माथुर अपने बैग में सामान रखने में व्यस्त थे। मालती ने आगे बढ़ कर उमाकान्त का फैला हुआ हाथ पकड़ लिया।

"कौन लिली?" डाक्टर बोला।

"नहीं, मालती!" मालती का स्वर काँप रहा था—"संसार के अन्धों को उनकी ज्योति वापस दिलाने के प्रयत्न में जिसने अपनी ज्योति खो दी, मैं उसे ज्योति-हीन न रहने दूँगी, कभी नहीं। मैं अपनी ज्योति आप से बाँट लूँगी!"

उमाकान्त क्षण भर के लिए हतबुद्धि सा हो गया, फिर एक लम्बी साँस लेकर बोला "तुम...मालती..."

मालती काँप रही थी—उसके चेहरे पर गहरी वेदना के साथ हर्ष की एक मद्धिम ज्योति भी थी।

अपना बैग बन्द करते हुए डाक्टर माथुर कह रहे थे, "मैं निराशा नहीं हुआ। दो महीने बाद मैं दूसरा आपरेशन करूँगा"

हमारा कथा-साहित्य

पिंजरा—तेरह सरल-सरस सामाजिक कहानियों का अति मनोरंजक संग्रह, जिन की कटु-यथार्थता सीधी हृदय को चीरती चली जाती है। नया संस्करण ३)

★ ★ ★

दो धारा—श्रीमती कौशल्या अश्क तथा श्री अश्क की दस अपेक्षाकृत लम्बी कहानियों और दो रेखा-चित्रों का संग्रह, जिन में लेखक-दम्पति ने अपने-अपने दृष्टिकोण से एक दूसरे का खाका खींचा है। ३।)

★ ★ ★

काले साहब—अश्क जी की नयी कहानियों और संस्मरणों का अति मनोरंजक संग्रह जिस में उन की सभी तरह की कहानियाँ संकलित हैं। ३॥)

जुदाई की शाम का गीत—अश्क जी की रूमानी कहानियों का सर्वोत्तम संग्रह। ३॥)

छींटें—अश्क जी की ४२ हास्य-व्यंग्य-भरी कहानियों का संग्रह। ५)

★ ★ ★

मेरी दुनिया—महेन्द्र नाथ ही की दुनिया नहीं, जिन्होंने अपने वातावरण को चित्रित करते हुए वह सुन्दर कहानी लिखी है, वरन् बलवन्त सिंह, अब्बास, अहमद नदीम कासिमी और मण्टो जैसे प्रख्यात उर्दू कहानी लेखकों की भी दुनिया है, क्योंकि उन महान लेखकों की कहानियाँ भी संग्रह में संकलित हैं। २॥)